आधुनिक वीर काव्य

संपादक

श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी

श्री गुर्ती सुब्रह्मण्य एम० ए०

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

आधुनिक वीर काव्य

सम्पादक

पं० भगवती प्रसाद वाजपेयी

श्री गुर्ती सुब्रह्मण्य, एम० ए० साहित्यरत्न

प्रकाशक

हिन्दी साहित्य-सम्मेलन

प्रयाग

प्रथम वार] १६४४ [मूल्य

प्रस्तावना

वीर-भावना का मूल—प्रत्येक अबोध शिशु के मुख पर किसी न किसी प्रकार की मुद्रा अवश्य रहती है। कभी वह प्रसन्नता के मारे किलकारने लगता है और उसके अधर-स्मित इस भाव को व्यक्त करते हैं। जब किसी कारण उसे ग्लानि होती है तो वह छटपटाता है और रोने लगता है। जब वह किसी से दूर हटना चाहता है तब उसकी आकृति पर एक प्रकार की भय की मुद्रा दृष्टिगोचर होने लगती है। जब शांत रहता है तो शांत और सतोगुण का भाव प्रकट होता है। और जब वह कारणवश किसी से अप्रसन्न होता है तो इस भावना को वह क्रोध के द्वारा व्यक्त करता है। पर उसके मूल में एक भावना अन्तर्हित है और वह है न्याय की और स्वत्व-रक्षा की। अपने स्वत्वों की रक्षा के लिये ही वह शत्रु पर हमला करता है। पर साथ ही उसका एक और दृष्टिकोण रहता है और वह है सत्य की प्रतिष्ठा। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि—

परित्राणाय साधूनाम् विनाशायच दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

साधुओं की रक्षा के लिये, दुष्टों के दलन के लिये, और धर्म की प्रतिष्ठा के लिये मैं बार-बार जन्म लेता हूँ।

यही भावना वीर-रसके मूल में है। यह भावना जितनी ही उच्च और अधिक मात्रा में होगी उतनी ही दैवी और अनुकरणीय होगी। और जितनी ही कम और वैयक्तिक होगी उतनी ही पाशविकता के समीप की होगी।

वीर-भाव की सृष्टि—वीर भावना की सृष्टि संघर्ष में हुई है। जब मनुष्य ने देखा कि उसके स्वत्व और जन्मसिद्ध अधिकार कुचल डाले

जा रहे हैं। आततायियों का अत्याचार बढ़ रहा है; धन स्त्री, तथा बच्चों का जीवन सदा संकट में है; स्वाधीनता (liberty), समानता (equality) और भ्रातृत्व (brotherhood) की रक्षा असंभव है; राष्ट्र की नौका डूबने वाली है, तो उसके हृदय में एक भावना उठी और वह थी विप्लव की। विप्लव ने प्रतिशोध को जन्म दिया। अन्यायी का अत्याचार कब तक सहन किया जायगा? भाग्य का सहारा कब तक लिया जाय? और प्रतिशोध भी किस रूप में हो? चमचम चमकती हुई तलवारों को लेकर या तो वह युद्ध के लिये सन्नद्ध हो जाय; या किसी उच्च आदर्श को सामने रखकर आत्मबलि के लिये उतारू हो जाय अथवा व्यक्तिगत त्रुटियों को मानव-दुर्बलताओं का एक अङ्ग समझकर उस पर करुणा करे। उसके प्रतिशोध के यही तीन उपाय थे।

इस प्रकार वीर-भाव का सृजन अनादि काल से हुआ। बहुत संभव है कि परमात्मा को यह अभीष्ट रहा हो, कि वह समस्त चराचर सृष्टि को इस भावना से ओत-प्रोत कर दे; क्योंकि यही एक ऐसी भावना है जो कि सृष्टि-संचालन में बिजली (electricity) का काम करती है।

'वीर' भाव की परिभाषा (१) भारतीय दृष्टिकोण—हमारे यहाँ के साहित्यकारों ने वीर-भावना को एक 'रस' माना है। "वीर सबसे उत्तम प्रकृति का होता है"[१]—ऐसा कहकर वीर को सब रसों से श्रेष्ठ कहा है। इसका स्थायी भाव उत्साह होता है। बिना उत्साह के वीररस का सञ्चालन असंभव है।

प्राचीन साहित्यकारों ने दान, युद्ध, दया—तीन तरह के वीर माने हैं[२] पर कविराज ने एक और 'धर्मवीर' माना है।[३] इस प्रकार चार प्रकार के वीर हुए।

---

[१] उत्तमा प्रकृतिर्वीरः

[२] दानयुद्धदयावीरभेन त्रिविधो मतः

कविराजश्च मनुते धर्मवीरस्ततोधिकः।

अच्युतराय ने बारह प्रकार के वीर माने हैं "—युद्धवीर, दानवीर, दयावीर, धर्मवीर, सत्यवीर, विद्यावीर, तपवीर, बलवीर, त्यागवीर, योगवीर, क्षमावीर, और ज्ञानवीर[१]

पण्डितराज जगन्नाथ ने तो वीररस के श्रृङ्गार की तरह अनन्त भेद माने हैं[२]

वास्तव में वर्गीकरण समझने की सरलता के लिये होता है। यदि उसके द्वारा किसी विषय या रस को सीमित कर दिया जाय तो बड़ी मूर्खता होगी। एक समय आवेगा जबकि जिस वस्तु में जो पुरुष उत्कृष्टता प्राप्त करने का यत्न करेगा और उसमें सफल हो जायगा वही वीर कहलायेगा। इस प्रकार वीरों के असंख्य भेद हो जायँगे।

पाश्चात्य दृष्टिकोण—पाश्चात्य साहित्यकारों ने वीर-काव्य को एपिक माना है।

प्रसिद्ध दार्शनिक और राजनीतिज्ञ हाब्स (Hobbes) का कथन है।

"वर्णनात्मक वीर-काव्य एपिक कहलाता है और नाटक सम्बन्धी वीर-काव्य 'ट्रैजड़ी' कहलाता है।"

इस वीर-भावना का द्योतक देवता 'मार्स' है।

एपिक की परिभाषा होरेस ने बहुत ही स्पष्ट और सरल शब्दों में की है। उसका कहना है कि 'एपिक' कप्तानों, राजाओं और भयानक युद्धों का षट्पद छन्द में एक वर्णनात्मक काव्य है।"

परिभाषा बहुत ही स्पष्ट है।

---

[१]मते चाच्युतरायस्य वीरो द्वादश धातुसः।
युद्धदानदयाधर्मसत्यविद्या तपोबलैः॥
अभिनव काव्यप्रकाशः॥
त्यागयोग क्षमाज्ञानैस्तदुपाधेर्विभेदत।

[२]वस्तुस्तु बहवो वीररसस्य श्रृंगार रसस्येव प्रकाराः
निरूपमितुं शक्यन्ते
—रसगंगाधर

ले बाँसू नामक एक पाश्चात्य विद्वान् का कथन है कि "एपिक एक पद्यबद्ध रचना है जिसमें महान् कार्य-रूपी आवरण द्वारा रहन-सहन के ढंग का उपदेश दिया जाता है।"

मेकनाइल डिक्सन ने इसको और स्पष्ट किया है। उसका मत है, कि एपिक में एक नायक हो, ऊँची श्रेणी के वीर पात्र हों, एक प्रशंसनीय नायक हो, विषय बहुत गंभीर और जातिगत हो, कल्पना और भाषा की महत्ता से युक्त हो। यदि ये सब गुण विद्यमान होंगे तो एपिक बड़ा ही सुन्दर होगा।

हमारे वीर-काव्य की परिभाषा से वहाँ के एपिक की परिभाषा मिलती है। केवल अन्तर इतना ही है कि हमारे यहाँ वीर-रस का विवेचन हुआ है और वहाँ वीर-काव्य का।

वीर-काव्य का इतिहास—जितनी प्राचीन कविता की सृष्टि है उतनी ही प्राचीन वीर काव्य की भी। वीर काव्य का आरंभ कब हुआ और कहाँ हुआ इसका कोई युक्तियुक्त प्रमाण नहीं मिलता, पर, यह निश्चित है कि कविता के सृजन के साथ ही वीर-काव्य की भी सृष्टि हुई।

गम्मियर नामक एक विद्वान् ने कविता की उत्पत्ति बतलाते हुए कहा है कि "जहाँ तक कविता का सम्बन्ध है राजा लोग इसके पोषक पिता हैं और रानियाँ माताएँ"

इसका तात्पर्य यह हुआ कि कविता की सृष्टि वीर-भावनाओं के ही अन्तर्गत हुई क्योंकि राजा-रानी का सम्बन्ध वीर-काव्य से बहुत कुछ है।

संसार के वीर-काव्य के इतिहास को हम तीन युगों में विभक्त कर सकते हैं—१. प्राचीन २. माध्यमिक और ३. आधुनिक

(१) **प्राचीन युग**—प्राचीन युग जनकाव्य (फोक-एपिक) काव्य जो जनता द्वारा गाये जाते थे। कहा नहीं जा सकता, कि कितने काव्य मौखिक रूप में केवल गाने के लिये रचे गये।

यूरोप में कितने ही भाट ('बार्ड्स') गा गाकर अपनी जीविका

आस करते थे। कभी-कभी तो ऐसे प्रसंग भी आते हैं जहाँ ऐसे लोग केवल पद्य में ही साधारण वार्तालाप किया करते थे।

यूरोप का आदि कवि होमर इसी प्रकार का एक अन्धा कवि था। उसमें 'इलियड और ओडेसी' नाम के दो वीर-काव्य बनाये हैं। दोनों में युद्ध का वर्णन है। एक में राष्ट्रगत या जातीय युद्ध का वर्णन है और दूसरे में वैयक्तिक। इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यक्तिओं का जाति से तथा दूसरे जाति का व्यक्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। दोनों का समन्वय ही होमर की विशेषता है।

भारतवर्ष में तो रामायण और महाभारत इसके उदाहरण हैं। दोनों युद्धों से भरे पड़े हैं। जातिगत, व्यक्तिगत सब तरह के युद्ध हैं। भारतीय साहित्य के लिये ये दोनों वीर-काव्य कहानी रूप हैं। इनकी भी रचना दन्तकथाओं पर अवलम्बित है। कोई लिखित प्रमाण नहीं हैं। इनको भी यदि श्रुत वीर-काव्य में रक्खा जाय तो कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती।

इस श्रेणी में बहुत से ग्रन्थ अब तक के आते हैं। अंग्रेजी का (Beuwolf) ब्योवुल्फ और जगनिक का आल्हा-ऊदल इसी कोटि के हैं। आल्हा के गाने अभी तक देहातों में गाये जाते हैं। नार्वे के नोर्स गाने और 'बैलेड' आदि इसी के अन्तर्गत हैं। इस प्रकार की साम्प्रदायिक कविता कम्यूनल पोएट्री का सबसे महान् गुण इसकी अकृत्रिम और प्रकृत भाषा में है।

माध्यमिक युग—हमारी समझ में, जबसे ईसाई सन् का आरंभ हुआ, उसीके लगभग, कवियों में भी अपने वीर-काव्य को लिपिबद्ध करने की लालसा उत्पन्न हुई। हर्डर के शब्दों में वे 'कागज द्वारा अमरता' पेपर एटर्निटी चाहते थे। इस प्रकार के वीर-काव्य को हम साहित्यिक वीर-काव्य भी कह सकते हैं क्योंकि जिस वस्तु को लिपिबद्ध करना है उसे संस्कृत बनाना परमावश्यक है।

साहित्यिक वीर-काव्य का आरंभ वर्जिल के समय से होता है। हम इसी समय से वीर काव्य के विकास में माध्यमिक युग का आरंभ पाते हैं। इसकी प्रगति पाश्चात्य साहित्य में मिल्टन के समय तक होती रही।

भारतवर्ष में महाभारत और रामायण से युद्ध सम्बन्धी प्रसङ्गों को लेकर वीर-काव्य रचा गया है। वेणीसंहार नाटक, किरातार्जुनीय, रघुवंश आदि में बहुत सा वीर-काव्य भरा पड़ा है।

हिन्दी काव्य में तो वीर-काव्य का आरंभ रासो ग्रन्थों से होता है। इनके दो रूप हैं। एक तो वीरगीतों के (Ballads) के रूप में हैं। इस श्रेणी में नरपति नाल्ह का बीसलदेव रासो है। प्रबन्ध वीर-काव्यों की श्रेणी में चन्द बरदाई कृत पृथ्वीराज रासो आते हैं। यह ग्रन्थ तो हिन्दी का आदि महाकाव्य है। वीर-काव्यों की बहुलता ही के कारण हिन्दी काव्य के आदियुग (सन् १०००—१५०० तक) को वीरगाथा। काल कहा गया है। इसके बाद हिन्दी वीर-काव्य बहुत समय तक नहीं पाया जाता। फिर एक बार जाग्रति होती है जिसके फलस्वरूप हमें केशव का वीरसिंहदेव चरित, मान का राजविलास, भूषण का शिवराजभूषण, लीला का छत्रप्रकाश, सूदन का सुजान-चरित, और पद्माकर का हिम्मत बहादुर-विरुदावली आदि ग्रन्थ मिलते हैं। इस प्रकार वीर-काव्य के माध्यमिक युग का अन्त हो जाता है।

आधुनिक युग वीर-काव्यों का न होकर वीर-कविताओं का है इस युग में अब किसी के पास न तो इतना समय रहा और न इतनी साधना रही कि वीररस को लेकर एक महाकाव्य का निर्माण करें।

प्रायः देखा जाता है कि वीरता के प्रसंगों का अधिकतर काव्यों में उल्लेख किया गया है। केवल किसी महान् पुरुष को लेकर उसके समस्त व्यक्तित्व का प्रदर्शन करना आज के कवि का काम नहीं है। वह तो उसके जीवन के मार्मिक अंशों को लेता है और उसीका एक छोटा सा चित्र अङ्कित कर देता है।

एक और बात आधुनिक वीर-कविता में दृष्टि-गोचर होती है।

वह है हेगेल के शब्दों में "जातीय भावनाओं का प्रदर्शन" अधिकतर पराधीन जातियाँ इसी प्रकार की वीर कविताओं द्वारा अपनी राष्ट्रीय भावनाओं को जाग्रत करती हैं'।

हिन्दी में वीर-काव्य १. आदि परम्परा—हिन्दी में वीर-काव्य का जन्म वीरपूजा की भावना को लेकर होता है। युद्धों में जिन वीरों ने अपना अद्भुत शौर्य्य प्रदर्शित किया, कुटुम्ब और जीवन की व्यक्तिगत असुविधाओं की परवा न करके केवल देश और राज्य के गौरव को ध्यान में रखकर जिन्होंने अपनी आत्माहुति दी, केवल उनकी गुण-गाथा और कष्ट-कहानी के वर्णन को लेकर वीर कविताओं की रचना की गयी।

किन्तु यह स्थिति पूर्वकाल की थी। उस समय युद्ध राज्यों में होते थे। ब्रिटिश शासन के बाद जब इस स्थिति से हम थोड़ा आगे बढ़े, तो हमारे भीतर एक सामूहिक राष्ट्र-चेतना का भाव उत्पन्न हुआ। राजनैतिक आन्दोलन के द्वारा इस भावना को जो प्रोत्साहन मिला। उसीके फल-स्वरूप हिन्दी में राष्ट्रीय कविता की सृष्टि हुई। इस प्रकार ध्यान से देखा जाय तो हिन्दी की समस्त राष्ट्रीय कविता वीररसमयी है।

हिन्दी का आधुनिक काव्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से प्रारम्भ होता है। भारतेन्दु जी वीररस के कवि नहीं थे, यह निर्विवाद सिद्ध है। किन्तु उनके नाटकों में वीररस की कतिपय कविताएँ मिलती हैं। वे हिन्दू संस्कृति के पक्के समर्थक थे और इसलिए परतंत्र भारत की दुर्दशा से उनका हृदय एक गहन पीड़ा का अनुभव करता था। मुग़ल-कालीन कथानक लेकर उन्होंने अपनी इस वेदना को व्यक्त किया है। यहाँ कहा जा सकता है कि वेदना व्यक्त करना तो वीररस का गुण नहीं है। कहना ठीक भी है। किन्तु शत्रु से बदला लेने के लिए जो वृत्ति मनुष्य को प्रतिहिंसक बनाती है, उसका सूत्रपात वेदना, टीस और कसक से ही होता है। चाहे वह शारीरिक हो चाहे मानसिक। और कवि की वेदना तो मानसिक होती ही है। अस्तु, कवि हरिश्चन्द्र ने

एक कविता में भारत-विजय के लिए भारतवासियों को जो उत्तेजन दिया है, वह (निम्नांकित कविता में) इस प्रकार है—

युद्धाह्वान

चलहु वीर उठि तुरत सबै जय-ध्वजहि उड़ाओ।
लेहु म्यान सों खड्ग खींचि रन-रंग जमाओ॥
परिकर कसि कटि उठो धनुष पै धरि सर साधौ।
केसरिया बानी सजि-सजि रनकंकन बाँधौ॥
जौ आरजगन एक होइ निज रूप सम्हारैं।
तजि गृहकलहिं अपनी कुल-मरजाद विचारैं॥
तौ ये कितने नीच कहा इनको बल भारी।
सिंह जगे कहुँ स्वान ठहरिहैं समर मंझारी॥
पदतल इन कहँ दलहु कीटमिन सरिस जवनचय।
तनिकहु संक न करहु धर्म्मजित जय तित निश्चय॥
आर्य्य वंश को वध न पुन्यजा अधम धर्म्म मैं।
गोभक्षन द्विज श्रुति हिंसन नित जासु कर्म्म मैं॥
तिनको तुरितहिं हतौ मिलैं रनकै घर माहीं।
इन दुष्टन सों पाप कियेहूँ पुन्य सदाहीं॥
चिउँटिहु पदतल दबे उसत ह्वै तुच्छ जन्तु इक।
ये प्रतक्ष अरि इनहिं उपेछै जौन ताहि धिक॥
धिक तिन कहँ जे आर्य्य होइ जवनन को चाहैं।
धिक तिन कहँ जे इनसों कछु संबंध निबाहैं॥
उठहु वीर तरवार खींचि मारहु घर संगर।
लोह-लेखनी लिखहु आर्य्य-बल जवन हृदय पर॥
मारू बाजे बजैं कहौ धौंसा घहराहीं।
उड़हिं पताका सत्रु-हृदय लखि-लखि थहराहीं॥
चारन बोलहिं आर्य्य-सुजस बंदी गुन गावैं।
छुटहिं तोप घनघोर सबै बन्दूक चलावैं॥

चमकहिं असि भाले दमकहिं ठनकहिं तन बखतर।
हींसहिं हय झनकहिं रथ गज चिक्करहिं समर घर॥
छन महँ नासहिं आर्य्य नीच जवनन कहँ करि छय।
कहहु सबै भारत जय भारत जय भारत जय॥

उपरोक्त कविता में भारत के प्राचीन गौरव, तथा आर्य संस्कृति का स्मरण दिलाकर वीरों को युद्ध के लिये प्रोत्साहन दिया गया है। परन्तु युद्ध के लिये किसी एक अग्रणी या नेता की भी आवश्यकता होती है जिसके एक ही इङ्गित पर सैंकड़ों वीर पुरुष अपनी बलि दे देते हैं। श्री राधाकृष्णदासजी ने 'महाराणा प्रताप' नामक नाटक लिखकर इस आवश्यकता की पूर्ति की। इसमें राष्ट्रीय जागृति के साथ-साथ वीरोचित आदर्श की स्थापना भी की गई है। उदाहरण के लिये उस नाटक से एक अंश उद्‌धृत किया जाता है:—

प्रताप-प्रशस्ति

तजि सोच उठौ सब वीर बाँधि दृढ़ आसा।
अब भयो भानुकुल भानु प्रताप प्रकासा॥
दुखमय परबस की रैन अहो सब बीती।
दिन गये यवनगन जो चित्तौरगढ़ जीती॥
चलि वेग लगाओ मसि उनके मुख चीती।
कसि कमर उठौ अब एक होइ करि प्रीती॥
सब भाजहिंगे लखि इनको तेज विकासा।
अब भयो भानुकुल भानु प्रताप प्रकासा॥१॥
चलि शत्रुन के दल भेदि निसान उड़ावैं।
फिर चित्रकूट पर आर्य-ध्वजा फहरावैं॥
आनन्द सो सब मिलि नाचैं कूदैं गावैं।
स्वाधीन दिवस सब सुख सो सदा बितावैं॥
निर्द्वन्द होहु चित चाव बढ़ाइ हुलासा।
अब भयो भानुकुल भानु प्रताप प्रकासा॥२॥

अपनी-अपनी करतूति सबै दिखराओ ।
लरि-लरि अरि सैनहिं इततें तुरत भगाओ ॥
जइ सों भारत तें इनके नाम मिटाओ ।
फिर आर्य सुयस की नदी पवित्र बहाओ ॥
करि कैं अब विजय मिटाओ जन परिहासा ।
अब भयो भानुकुल भानु प्रताप प्रकासा ॥३॥

परतन्त्र होइ परताप जबहिं प्रगटाओ ।
तौ विजय महूरत अब तुम्हरे दिसि आयो ॥
चूकौ जिनि समयो ऐसो सुन्दर पायो ।
तुम्हरे सिर राजत छत्र प्रताप सुहायो ॥
उत्साह सहित उठि कीजै शत्रु विनासा ।
अब भयो भानुकुल भानु प्रताप प्रकासा ॥४॥

इस प्रकार एक सामूहिक राष्ट्र-चेतना और वीर-पूजा को लेकर हरिश्चन्द्र-कालीन वीर कविता की सृष्टि हुई । इस काल के वीर-काव्य की परम्परा में पौराणिक और ऐतिहासिक आधारों की प्रधानता है । रत्नाकर जी ने पौराणिक काल लिया तो लाला भगवानदीन जी ने ऐतिहासिक (१२वीं शताब्दी) । यह परम्परा किसी-न-किसी रूप में हिन्दी में अब तक चल रही है, हिन्दी के आधुनिक काव्य पर दृष्टि डालनेवाले आलोचक का यह प्रश्न, ऐसी दशा में सर्वथा स्वाभाविक हो जाता है कि वीर-काव्य हमारे यहाँ अभी लिखा कहाँ गया ? पर प्रश्न से जो आरोप फूटता है, उसका मूलाधार उस समय असंगत ठहरता है, जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि 'वीर काव्य' को जिस रूढ़ि अर्थ में लिया गया है, उसकी परिस्थिति से क्या आज का कवि तादात्म्य रख पाया है ? आज जब हमारे देश में युद्ध होते ही नहीं, तब उनका वर्णन कैसे हो ? हमारे यहाँ वीरता का जो आदर्श रहा है, उसके अनुरूप पात्र ही जब कवि की अनुभूति में नहीं आते, तब वह वीर-काव्य की सृष्टि कैसे करे ? इसके सिवा एक बात और है । वह यह कि संसार के वीर-रसात्मक

साहित्य में ऐसे कितने उदाहरण मिलते हैं, जब ऐतिहासिक आधारों को त्याग कर कवि ने वीर-काव्यों की सृष्टि की हो। रूढ़ि अर्थ के वीर-काव्य का मौलिक आधार वास्तव में इतिहास होता है। और इस दृष्टि से देखा जाय, तो हिन्दी कविता में वीर-काव्यों की परम्परा कहीं भंग हुई है, ऐसा प्रतीत नहीं होता। इस संग्रह की कतिपय रचनाओं से यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है।

२. वर्तमान परम्परा—वीर-काव्य के रूढ़ि अर्थ का त्याग कर यदि हम उसके व्यापक अर्थ पर दृष्टिपात करें, तो हमें मनस्तत्त्व की ओर जाना पड़ेगा। परन्तु वीर-रस का जहाँ मनस्तत्त्व से सम्बन्ध है, वहाँ वह सर्वथा बहिर्मुखी न होकर प्रधानतः अन्तर्मुखी है। गोस्वामी तुलसीदास का यह कथन इस स्थल पर सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है कि 'आपन मुख तुम आपन करनी—बार अनेक भाँति बहु बरनी।' यहाँ कवि ने बहिर्मुखी वीर-भावना पर एक तीखा व्यङ्ग्य किया है। तात्पर्य्य यह कि अपने विषय में अदम्य शक्ति, सामर्थ्य और तीव्रता से भरी हुई बात (गर्वोक्ति) कहना कोई वीरोचित कार्य नहीं है। वास्तव में यहाँ कवि मानस के उस स्तर को स्पर्श करने की चेष्टा करता है; जहाँ मौखिक गर्जन-तर्जन को विशेष महत्व नहीं दिया गया है।

तात्पर्य्य यह कि वीर भावना वास्तव में कथन में ही सीमित नहीं है। ऐसे भी महापुरुष देखे गये हैं, जिन्होंने जीवन भर किसी पर क्रोध का अतिरेक नहीं किया। बहुत ही संयत भाषा में वे वार्तालाप करते रहे। लड़ाइयाँ भी उन्होंने अपने शत्रुओं से जी खोल कर लड़ीं, किन्तु बढ़कर बातें नहीं मारीं, डींगें नहीं हाँकीं। और जीवन में चरम सफलता उन्होंने प्राप्त की। शान्त रहते हुए भी महापुरुष वे मानों अपने भीतर एक अग्नि छिपाये रहे, मौन रहकर भी वे जीवन-संग्राम में विजयी हुए। अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग उन्होंने नहीं किया, रक्तपात उनसे कभी नहीं हुआ; तो भी शत्रुओं के दल में हाहाकार वे सदा उपस्थित बनाये ही रहे। यहाँ प्रश्न उठता है क्या

इस प्रकार के युद्ध को हम युद्ध की संज्ञा नहीं दे सकते ? शक्ति का प्रयोग ही क्या युद्ध है और आत्मा की उस दृढ़; उज्वल किन्तु सर्वाधिक विनाशकारी क्षमा, कष्ट-सहिष्णुता और बदला लेने की भावना के दमन में कुछ भी वीरता नहीं है ?

राष्ट्रीय कविता और वीर-काव्य—इस प्रकार असहयोग और सत्याग्रह के आन्दोलन भी युद्ध ही ठहरते हैं। देश-काल की इन परिस्थितियों का हिन्दी कविता पर भी प्रभाव पड़ा और हिन्दी के जागरूक कवि ने राष्ट्रीय चेतना का शंखनाद किया।

किन्तु इस राष्ट्रीय कविता-सृष्टि की सफलता प्रायः उस दल विशेष तक सीमित रही, जो राजनैतिक जीवन में पड़कर कारागार-प्रवासी हुए। जान पड़ता है उस समय कविता का असीम प्राङ्गण सिमिट कर ऐस एकान्तिक हो गया कि हिन्दी कविता के लगभग बारह वर्ष केवल राष्ट्रीय जागरण के गान में व्यतीत हुए। किन्तु मनुष्य की वीर-भावनाएँ इतनी सीमित नहीं कि वे चिरकाल तक एक ही दिशा में स्थिर रह सकें ? केवल राजनैतिक कारणों की भित्ति पर वीर-कविता की इमारत कब तक खड़ी रहती ?

यहाँ एक बात और विचारणीय है। वह यह है कि राजनैतिक कारणों से प्रभावित होकर कविता लिखने की सुविधाएँ हमको पूर्णरूप से प्राप्त भी तो नहीं हैं। वीर-काव्यों की वास्तविक सृष्टि तो तब होती है, जब देश स्वतंत्र होता है। यही कारण है कि राजनैतिक कारणों के आधार पर जो कविताएँ हिन्दी में लिखी गईं, वह एक सीमा से आगे न बढ़ सकीं।

वीर-काव्य और व्यक्तिवाद—यह तो हुई राष्ट्रगत वीर कविता की बात। परन्तु राष्ट्र से परे मनुष्य का अपना निजी जीवन भी तो एक वस्तु है। फिर आज का जीवन तो और भी अधिक संघर्षमय है। समाज की समस्याएँ भी कम भीषण नहीं हैं। समाज का संगठन जिन आदर्शों के आधार को लेकर हुआ, वे आदर्श आज हमारे सम्मुख

नहीं हैं। आदिकालीन समाज का व्यक्ति अपने को उस सीमा तक अपूर्ण और असंतुष्ट नहीं देख पाता था, जितना आज समझता और मानता है। आज तो समाज की सीमाओं और उसके नियंत्रणों से व्यक्ति इस प्रकार जकड़ा हुआ है कि स्वाभाविक रूप से विकसित होने की क्षमता ही उसमें नहीं रह गयी है, जीवन के मुक्त विकास में वह सर्वथा अक्षम हो रहा है। यही कारण है कि पुरातन आदर्शों के स्थान पर नवीन आदर्शों के आकर्षण की वह किसी प्रकार उपेक्षा कर नहीं पाता।

अन्तद्वन्द्व—इसका परिणाम यह हुआ है कि एक ओर वह समाज की विषमता से आक्रान्त हो गया है, तो दूसरी ओर उसके मानस में भी एक उथल-पुथल, एक क्रान्ति किंवा अन्तर्द्वन्द चलता रहता है। समाज से तो वह लड़ता ही है, किन्तु अपने आप से भी उसकी लड़ाई जारी रहती है। इसके सिवा समाज के भीतर ही आदर्शों को लेकर, जो संघर्ष चला करते हैं, उनमें भी मूलतः व्यक्तिगत स्वार्थों की हानि एवं पूर्ति का ही आधार प्रमुख रहता है। ध्यान से देखा जाय, तो हमारे यहाँ समाज की लड़ाइयों में कुछ थोड़े-से व्यक्तियों का स्वेच्छाचार ही मौलिक कारण रहा है। इसीलिए जहाँ कहीं वीर-रस की झलक, जागृति एवं परिपुष्टि हिन्दी कविता में मिलती है, वहाँ उसका आधार व्यक्तिगत विस्फोट है। सामाजिक विस्फोट यदि कहीं है भी, तो अपेक्षाकृत कम है। पौराणिक युग में जो युद्ध हुए, वे पृथ्वी, समाज और सम्पत्ति—कुल मिलाकर राज्य—को लेकर ही हुए, यह कहना कठिन है। उस समय के युद्धों में नारी का भी एक प्रधान भाग रहा है। और नारी-हरण की घटनाओं का सम्पूर्ण आधार सोलह आना व्यक्तिगत है।

वीर-पूजा और वीर-काव्य—यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि पुराणयुग का समाज आज की अपेक्षा वीर-पूजक अधिक था। इसीलिए वीर योद्धा हों, चाहे वीर भूपाल, व्यक्ति होकर भी वे समाज होते थे। उनका व्यक्तिगत दुःख सम्पूर्ण समाज का दुःख हो जाया करता था। द्वापर में द्रौपदी का अपमान केवल एक नारी का अपमान

न होकर सम्पूर्ण नारीजाति का अपमान माना गया और उसने महाभारत की सृष्टि की। त्रेतायुग की महारानी केकयी और तपोनिधि सीता के कारण हिन्दी में रामचरितमानस की सृष्टि हुई।

व्यक्तिवाद किन्तु सामाजिक—आज काव्य की परख वाद को आधार मान कर की जाने लगी है। ऐसा क्यों है, यह प्रसंग उठाना इस स्थल का विषय नहीं है। यहाँ हम केवल यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि जो आलोचक हिन्दी के समस्त पिछले काव्य को व्यक्तिवादी कह कर एक प्रकार की उपेक्षा एवं भर्तस्ना प्रकट करते हैं वे यह भूल जाते हैं कि उच्च-से-उच्च कोटि के श्रमिक राज्य में भी ऐसी स्थिति रहना सर्वथा स्वाभाविक है कि श्रमिक वर्ग के शासन-संघ का जो कोई भी मंत्री हो, अपने विशिष्ट गुणों के कारण वह सम्पूर्ण राष्ट्र की पूजा, वन्दना और उपासना का भागी हो सके। और तब कौन कह सकता है कि उसके व्यक्ति का दुःख-सुख सम्पूर्ण समाज का दुःख-सुख नहीं बन जायगा ! तात्पर्य्य यह कि समाज का जो भी अधिष्ठाता, प्रधान, नेता अथवा पथ-प्रदर्शक होगा, उसके जीवन में एक ऐसी स्थिति अवश्य आ जायगी, जब उसका व्यक्ति समाज का प्रतीक बन जायगा। अतएव क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि जिस काव्य को हम आज व्यक्तिवादी कहते हैं। अपने निर्माण-काल में—और साहित्य के ऐतिहासिक दृष्टिकोण से उसके प्रभाव काल में भी उसका आधार व्यक्ति नहीं समाज था।

आज की स्थिति—ऊपर हम यह प्रकट कर चुके हैं कि आज के व्यक्ति को अपने जीवन में दो प्रकार की लड़ाइयाँ लड़नी पड़ती हैं। जीवन-संग्राम में वह समाज से लड़ता है और मन के भीतर अपने आप से कहा जा सकता है कि यों तो मनुष्य नित्य अपने से लड़ता रहता है। किन्तु उस चिरन्तन और शाश्वत अन्तर्द्वन्द्व की बात हम यहाँ नहीं उठा रहे। हम तो केवल यह प्रकट कर रहे हैं कि आज का व्यक्ति मस्तिष्क से जिस सीमा तक लड़ाकू बन गया है। हृदय से उस सीमा तक नहीं

बन सका। इसका कारण यह है कि उसका बौद्धिक धरातल सांस्कृतिक मान्यताओं, विश्वासों और तदनुकूल स्वभावगत प्रेरणाओं से भिन्न है। हिन्दी की वीररस की कविता इसी कारण परस्पर विरोधी विचार-धाराओं से परिपूर्ण है। उसमें एक ओर जीवन-संघर्ष है, दूसरी ओर निराशावाद। काव्य की एकात्म-बोधक सत्ता का परिपुष्ट और परिष्कृत रूप उसे तभी प्राप्त हो सकता है, जब कवि की अन्तरात्मा जो अनुभव करती है, उसकी अभिव्यक्ति वह बौद्धिक धरातल से करता है।

देखें, हिन्दी के वीर-काव्य को यह सुयोग कब प्राप्त होता है !

—सम्पादक

विषय-सूची

(१) ब्रज-भाषा

१—जगन्नाथदास 'रत्नाकर' १

२—अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ... १०

३—वियोगी हरि १५

४—हरदयालुसिंह २३

५—रामचन्द्र शुक्ल 'सरस' २८

(२) खड़ी बोली

६—लाला भगवानदीन ३३

७—मैथिलीशरण गुप्त ४५

८—गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' ५५

९—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ६१

१०—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ७३

११—सुभद्राकुमारी चौहान ७७

१२—गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ८४

१३—जगदम्बाप्रसाद मिश्र 'हितैषी' ८९

१४—उदयशंकर भट्ट ९३

१५—रामधारीसिंह 'दिनकर' १००

१६—गोपालसिंह नेपाली १०३

१७—सोहनलाल द्विवेदी १०६

१८—श्यामनारायण पाण्डेय १०८

१९—रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' ११३

आधुनिक वीरकाव्य

(१) ब्रज-भाषा

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

रत्नाकरजी का जन्म काशी में भाद्रपद शुक्ल ६, संवत् १९२३ वि० को हुआ और मृत्यु आषाढ़ कृष्ण ३, संवत् १९८९ वि० को हरद्वार में हुई। आपकी शिक्षा काशी में हुई और आपका निवासस्थान भी वहीं था। आप आधुनिक काल की ब्रजभाषा के बहुत उच्चकोटि के कवि थे। रीतिकालीन धारा के श्रेष्ठ कवियों की-सी भाषा, भाव और अभिव्यञ्जना-शक्ति आपमें प्रचुर परिमाण में थी। आपकी कविता देव, मतिराम और पद्माकर के समान सुन्दर हुआ करती थी। आपका 'गङ्गाष्टक' पद्माकर की 'गङ्गालहरी' का स्मरण दिलाता है।

आपके काव्य-ग्रन्थों में 'हरिश्चन्द्र', 'गंगावतरण' और 'उद्धवशतक' विशेष उल्लेखनीय हैं। 'हरिश्चन्द्र' में दानी हरिश्चन्द्र की कथा अत्यन्त सुन्दर ढंग से कही गई है। इसमें जहाँ श्मशान का वर्णन आता है, वहाँ वीभत्स-रस का सुन्दर दृष्टान्त मिलता है। 'गंगावतरण' में सगर के ६० हजार कुमारों का भस्म होना, उनके उद्धार के लिये भगीरथ का तप, गङ्गा का पृथ्वीतल पर लाया जाना, आदि की बड़ी रोचक कथा है। 'उद्धवशतक' में गोपियों और उद्धव का संवाद सौ कवित्तों में है। इसमें करुण रस का पूर्ण परिपाक है। भीष्म प्रतिज्ञा', महारानी दुर्गावती', 'श्रीनीलदेवी', 'श्री गुरुगोविन्दसिंह', 'महाराजा छत्रसाल' आदि आपकी वीररस की सुन्दर रचनाएँ हैं। आपकी रचनाओं का पूरा संग्रह

नागरी-प्रचारिणी सभा से अभी हाल ही में निकला है। आपके काव्य में भारत की अतीत संस्कृति की पूर्ण झलक मिलती है।

महाराज छत्रसाल

देव-द्विज-द्रोहिन के आँसनि उसाँसनि सौं,
मातभूमि गात कौ सँताप सियराऊँ मैं।
कहै रतनाकर बुँदेला भट मानी महा,
जमन-निसानी असि-पानी सौं बहाऊँ मैं॥
श्रीपति सहाय सौं दिलीपति कौ छत्र सालि,
छत्रसाल नाम निज सारथ बनाऊँ मैं।
चपल चकत्ता की महत्ता अरु सत्ता चाँपि,
चंपत कौ नंदन अमंद कहवाऊँ मैं॥१॥

कढ़त बुँदेलनि के रेलनि के नारा रन,
बलख बुखारा जिमि पारा थहरत हैं।
कहै 'रतनाकर' सपीर पीरजादनि के,
मीर मीरजादनि के धीर भहरत हैं॥
निपट निसंक बंक बैरिनि के जूथनि के,
सूथन ससंक लंक त्यागि ढहरत हैं।
मुगल पठाननि की सत्ता औ महत्ता मिटै,
कत्ता कढ़ैं छत्ता के चकत्ता हहरत हैं॥२॥

अन्न-जल जाकौ पाइ परम प्रसन्न रहे,
ताकौं हाय इमि अवसन्न किमि चैहैं हम।
कहै 'रतनाकर' सपूत राय चंपत कौ,
म्लेच्छनि अपूत के न पद सौं दलैहैं हम॥
उद्धत अधर्मिनि के कुटिल कुकर्मिनि के,
दास ह्वै उदास इहिँ नरक न रैहैं हम।
कैतौ भूमि भारत कौं सरग बनैहैं अबै,
कैतौ तेग झारि वेगि सरग सिधैहैं हम॥३॥

लगन धराइ कै लिखाइ बेगि चीठी चारु,
बाकी खाँ बसीठी दिल्ली नगर पठाई है।
कहै 'रतनाकर' तुरंत रनदूलह की,
बिसद बरात सेन सज्जित सिधाई है॥
कढ़ि कढ़ि बाँकुरे बुँदेला रन-मंडव मैं,
बढ़ि बढ़ि घोर घमसान यौं मचाई है।
भागे सबै भभरि अभागे रन त्यागे चंपि,
चंपत कैं लाल बिजै-बाल बरि पाई है॥४॥

ह्वै कै दलमलित बुँदेलनि के रेलनि सौं,
मुगल पठाननि के मान मद मरके।
कहै 'रतनाकर' ततार असवार लिए,
रूम सामहू के सरदार हारि सरके॥
बाकी खान सूबा के बिलाने मनसूबा सबै,
बिचले हवा ह्वै अवसान हू समर के।
सूरता तहौवर मियाँ की चकचूरि परी,
धूरि परी नूर पै नबाब अनवर के॥५॥

समर-समुद्र बैर-अचल सुमेरु अद्रि,
जीत-आस बासुकी-बरेत बर धारी है।
कहै 'रतनाकर' सुरासुर बुँदेल-म्लेच्छ,
करसि यथेच्छ कियौ घरसन भारी है॥
प्रगटे सुभासुभ अनेक परिनाम रत्न,
जिनकी सजल भई जोग बटवारी है।
फेरि बिजै-लच्छमी प्रतच्छि जस-कंज-माल,
चंपत के लाल कैं बिसाल बच्छ पारी है॥६॥

सुतुर-बिहीन सुतुरुद्दी दलि दीन भयौ,
ऐसौ मुगलद्दल बुँदेल बीर लूट्यौ है।

कहै 'रतनाकर' परान्यौ हाथ माथैं दिये,
मानौ टकटोरत कहाँ धौं भाग फूट्यौ है ॥
बीर छत्रसाल-करवार-धार-पानिप त्यौं,
दमकि दिलीस-सेन-सीस इमि टूट्यौ है।
अबदुस्समद की समदता सिरानी सबै,
अबद-अपायहू चुकाइ चौथ छूट्यौ है ॥७॥

जानी निज संपति सिरानी तत्काल सबै,
हाल चाहि चंपति के लाल रनरत्ता कौ।
कहै 'रतनाकर' बिचारै माथ धारे हाथ,
मानि अपमान महा मुगल महत्ता कौ ॥
खीसत खिझात दाँत पीसत अमीरनि पै,
देखत तुरंत अंत होत म्लेच्छ सत्ता कौ।
सुनि गुनि धीर बीर छत्ता की बिजै पे बिजै,
लत्ता अवसान भयौ चकित चकत्ता कौ ॥८॥

भीष्म-प्रतिज्ञा

भीषम भयानक प्रचारयौ रन-भूमि आनि,
छाई छिति छत्रिनि की गीति उठि जाइगी।
कहै 'रतनाकर' रुधिर सौं रुँधैगी धरा,
लोथनि पै लोथनि की भीति उठि जाइगी ॥
जीति उठि जाइगी अजीत पंडु-पूतनि की,
भूप दुरजोधन की भीति उठि जाइगी।
कैतौ प्रीति रीति की सुनीति उठि जाइगी कै,
आज हरि-प्रन की प्रतीति उठि जाइगी ॥१॥

पारथ बिचारौ पुरुषारथ करैगौ कहा,
स्वारथ-समेत परमारथ नसैहौं मैं।
कहै 'रतनाकर' प्रचारयौ रन भीषम यौं,
आज दुरजोधन कौ दुख दरि दैहौं मैं ॥

पंचनि कैं देखत प्रपंच करि दूरि सबै,
 पंचनि कौ स्वत्त्व पंचतत्व मैं मिलैहौं मैं ।
हरि-प्रन-हारी-जस धारि कै धरा ह्वै सांत,
 सांतनु कौ सुभट सपूत कहवैहौं मैं ॥२॥

मुंड लागे कटन पटन काल-कुंड लागे,
 रुंड लागे लोटन निमूल कदलीनि लौं ।
कहै 'रतनाकर' वितुंड-रथ-बाजी-भुंड,
 लुंड मुंड लोटै परि उछरिति मीनि लौं ॥
हेरत हिराए से परस्पर सचिंत चूर,
 पारथ औ सारथी अदूर दरसीनि लौं ।
लच्छ-लच्छ भीषम भयानक के बान चले,
 सबल सपच्छ फुफुकारत फनीनि लौं ॥३॥

भीषम के बाननि की मार इमि माँची गात,
 एकहूँ न घात सव्यसाची करि पावै है ।
कहै 'रतनाकर' निहारि सो अधीर दसा,
 त्रिभुवन-नाथ-नैन नीर भरि आवै है ॥
बहि-बहि हाथ चक्र-ओर ठहि जात नीठि,
 रहि-रहि तापै बक्र दीठि पुनि धावै है ।
इत प्रन-पालन की कानि सकुचावै उत,
 भक्त-भय-घालन की बानि उमगावै है ॥४॥

छूट्यौ अवसान मान सकल धनंजय कौ,
 धाक रही धनु मैं न साक रही सर मैं ।
कहै 'रतनाकर' निहारि करुनाकर कैं,
 आई कुटिलाई कछु भौंहनि कगर मैं ॥
रोकि भर रंचक अरोक वर बाननि की,
 भीषम यौं भाष्यौ मुसकाइ मन्द स्वर मैं ।

चाहत बिजै कौं सारथी जौ कियौ सारथ तौ,
वक्र करौ भृकुटी न चक्र करौ कर मैं ॥५॥

वक्र भृकुटी कै चक्र ओर चष फेरत हीं,
सक्र भए अक्र उर थामि थहरत हैं।
कहै 'रतनाकर' कलाकर अखंड मंडि,
चंडकर जानि प्रलय खंड ठहरत हैं॥
कोल कच्छ कुंजर कहलि हलि काढैं खीस,
फननि फनीस कैं फुलिंग फहरत हैं।
मुद्रित तृतीय दृग रुद्र मुलकावैं मीड़ि,
उद्रित समुद्र अद्रि भद्र भहरत हैं ॥६॥

जाकी सत्यता मैं जग सत्ताको समस्त सत्व,
ताके ताकि प्रन कौं अतत्त्व अकुलाए हैं।
कहै 'रतनाकर' दिवाकर दिवस ही मैं,
झंप्यौ कंपि झूमत नछत्र नभ छाए हैं॥
गंगानंद आनन पै आई मुसकानि मन्द,
जाहि जोहि बृन्दारक-बृन्द सकुचाए हैं।
पारथ की कानि ठानि भीषम महारथ की,
मानि जब बिरथ रथांग धरि धाए हैं ॥७॥

ज्यौंही भए बिरथ रथांग गहि हाथ नाथ,
निज प्रन-भंग की रही न चित चेत है।
कहै 'रतनाकर' त्यौं संग ही सखा हूँ कूदि,
आनि अरयौ सौंहैं हाहा करत सहेत है॥
कलित कृपा औ तृषा द्विमग समाहे पग,
पलक उठ्यौई रह्यौ पलक-समेत है।
धरन न देत आगैं अरुझि धनंजय औ,
पाछैं उभय भक्त-भाव परन न देत है ॥८॥

श्रीमहारानी दुर्गावती

दुर्ग तैं तड़पि तड़िता सी तड़कैं हीं कढ़ी,
कड़कि न पाए कड़खाहूँ अवै मुरगा।
कहै 'रतनाकर' चलावन लगी यौं बान,
मानौ कर फैले फुफुकारी मारि उरगा॥
आसा छाँड़ि प्रान की अमान की दुरासा माँड़ि,
भागे जात गब्बर अकब्बर के गुरगा।
देवी दुरगावती मलेच्छ-दल गेरे देति,
मानो दैत्य-दलनि दरेरे देति दुरगा॥१॥

देवी दुरगावती के धावत मलेच्छ सेन,
फाटि चली फेन लौं रुकी ना हरकहु मैं।
कहै 'रतनाकर' निहारे बहु संगर पै,
ऐसे रन-रंग ना बिचारे तरकहु मैं॥
चरबन चाहि जाहि आयौ चढ़ि आसफ खाँ,
ताकी कठिनाई ना लखाई करकहु मैं।
एतौ रन-बिमुख मलेच्छनि-झमेला भरयौ,
मेला भरयौ माची ठेल ठेला नरकहु मैं॥२॥

दुर्ग तैं निकसि दुरगावती स्ववीर धीर,
फूँकि कै स्वतंत्रता कौ मन्त्र ललकारे हैं।
कहै 'रतनाकर' स्वदेस-हित ठानि तिनि,
मुगल-पठान-दल बद्दल बिदारे हैं॥
धावा करि आपहूँ जहाँ की तहाँ कावा करि,
दावा करि अरि अरदावा करि पारे हैं।
मारे किते बान सौं कृपान सौं सँघारे किते,
केते कुंत तानि कै उतान करि डारे हैं॥३॥

रानी दुरगावती स्वतंत्रता की ठानी ठान,
देस-हित-हानी ना सुहानी छतरानी ह्वै ।
कहै 'रतनाकर' लखानी अस्त्र-सस्त्र धारि,
अरि-दल मानी मैं भयंकर भवानी ह्वै ॥
हेरत हिरानी लंतरानी सब आसफ की,
चलति कृपानी ना चलावत बिरानी ह्वै ।
पानी सब मुख कौ उतरि हिय पानी भयौ,
पानी गयो तेग कौ बिलाइ दग पानी ह्वै ॥४॥

दोष दुख दारिद सु चूरि दीनतां कै दूरि,
भूरि सुख संपति सौं पूरि प्रजा पाली है ।
कहै 'रतनाकर' स्वतंत्रतानुरक्ति अरु,
देस-भक्ति थापी धाक-सक्ति सौं निराली है ॥
पुनि कढ़ि दुर्ग तैं कृपान दुरगावति लै
दुष्टनि पै रुष्ट ह्वै अपार वार घाली है ।
धोखैं रहैं हेरत त्रिदेव जिय जोखैं यहै,
यह कमला है, कै गिरा है, किधौं काली है ॥५॥

जाकैं रन धावत प्रचारि तरवारि धारि,
धमकि धराधर समेत धरा धूजी है ।
कहै 'रतनाकर' उमड़ि जिहिं ओर जाति,
ताही ओर लुंड-मुंड होत झुंड मूजी है ॥
देबी दुरगावती बजाइ सैफ आसफ सौं,
हर के हियै की हरषाइ हौंस पूजी है ।
जोगिनी कहैं को यह जोगिनी नयी है अहो,
चंडी कहै चंडी को प्रचंडी यह दूजी है ॥६॥

देस-प्रेम-पूरन कौं अरि-दल-चूरन कौं,
सूरनि गुहारि मंत्र-माया किये देति है ।

कहै 'रतनाकर' कृपान कुन्त बान घालि,
अरिनि निकाय कौं निकाया किये देति है।।
मुंडहीन दीसत मलेच्छनि के झुंड-झुंड,
मानहु चमुण्ड प्रतिछाया किये देति है।
देवी दुरगावती दपेटि दुरगा लौं दौरि,
आसफ की सफ कौ सफाया किये देति है ।।७।।
देवी दुरगावती कराल कालिका सी कोपि,
काल-बालिका सी रन तारी मारि पहुँची।
कहैं 'रतनाकर' जहाँ ही भीर भारी परी,
तमकि तहाँ ही किलकारी मारि पहुँची ।।
जब सफ आसफ की अमित अपार महा,
ताहि गहिबे कौं सेन सारी मारि पहुँची।
फूटी आँखिहूँ ना तऊ म्लेच्छनि छटारी चढ़ी,
सरग-अटारी पै कटारी मारि पहुँची ।।८।।

—

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

उपाध्यायजी का जन्म वैशाख कृष्ण ३, संवत् १९२२ वि० को हुआ।

आप अपने तरुण जीवन में कानूनगो के पद पर कार्य करते थे। तदनन्तर अनेक वर्षों तक आपने हिन्दू विश्व-विद्यालय, काशी, के हिन्दी-विभाग में कार्य किया। आजकल अवकाश ग्रहणकर आप घर पर ही निवास करते हैं।

आपकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। जहाँ आपने 'अधखिला फूल' और 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' नामक दो उपन्यास लिखे हैं, वहाँ पटना विश्व-विद्यालय में हिन्दी-भाषा और उसके साहित्य के विकास पर अत्यन्त गम्भीर और विवेचनात्मक व्याख्यान देकर आपने एक उच्चकोटि के समीक्षक का भी परिचय दिया है।

कविता के क्षेत्र में भी आपने विभिन्न प्रणालियों का उपयोग किया है। 'बोलचाल', 'चुभते चौपदे' और 'चोखे चौपदों' में उर्दू काव्य-रचना की झलक स्पष्ट है। 'पद्यप्रसून' और 'वैदेही-वनवास' खड़ी बोली में लिखे गये हैं। 'प्रियप्रवास', जो आपका सर्वोत्तम महाकाव्य है, संस्कृत पदावली से युक्त भाषा में तथा अतुकान्त वर्णवृत्त छन्दों में लिखा गया है। इस पर आपको संवत् १९६९ में मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी प्राप्त हो चुका है। 'रस-कलश' में नवो रसों का दिग्दर्शन कराकर आपने रीतिकालीन काव्य-रचना-प्रणाली का स्मरण कराया है।

हमें उपाध्यायजी के 'रस-कलश' में वीररस के कई उदाहरण मिलते हैं। यों तो आपके 'प्रियप्रवास' में करुण-रस की धारा ही उमड़ी पड़ती है। पर वास्तव में आपके कवि-हृदय का पूर्ण परिचय हमें 'पवन-दूत' और

'यशोदा-विलाप' में मिलता है। आप भारतीय संस्कृति के उपासक और हिन्दू-हितों के दृढ़ समर्थक हैं। युवकों को उठानेवाली और देश की सोती शक्तियों को जगानेवाली आपकी अनेक कविताएँ ओजपूर्ण हैं।

कर्मवीर

विपुल-अलौकिक-कलान ते कलित बनि
रेलतार काज क्यों अकल्पनीय करते।
दामिनी क्यों कामिनी लौं सारति सदन-काम
कैसे दिवि-विभव दिवा-पति वितरते।
'हरिऔध' जो न कर्मवीरता धरा मैं होति
वारिधि को बाँधि कैसे बानर उतरते।
फिरते विमान अनगन क्यों गगन माँहिं
कैसे नग-निकर नगन ते निकरते॥ १॥

कैसे पृथु प्रथित बनत पृथिवी को दुहि
कैसे सातो सागर सगर-सुत सँवारे लेत।
कैसे पार करत पवन-पूत पारावार
गिरि कर धारी कैसे गिरिवर धारे लेत।
'हरिऔध' जो न कर्म-वीर की विरद होति
बार बार वीर कैसे वसुधा उबारे लेत।
दृगन के तारे क्यों सहारे होते साधन के
नभ-तल-तारे कैसे मानव उतारे लेत॥ २॥

कैसे मघवा के प्रबल-घन विलीन होते
ब्रज की बसुंधरा विभूति कैसे लहती।
करति सजीव क्यों सजीवन सी मूरि मिलि
दूर होति कैसे कौसलेस-बिथा महती।
'हरिऔध' जो न करतूती-करतूत होति
साहसी सपूत की सपूती कैसे रहती।

कैसे धूरि-धारा को उधारि या धरातल पै
सुर-सरि-धारा-सी पुनीत धारा बहती ॥ ३ ॥

जल-निधि कैसे दान करत अपार निधि
गाढ़ी कैसे गगन-विभूतिन ते छनती।
नाना-कल केते लोक-यान क्यों जनम लेते
बीजुरी क्यों विपुल-निराली जोति जनती।
'हरिऔध' जो न करतूत होति मानव मैं
वायु बहु-विभुता-वितान कैसे तनती।
कैसे रमा राजति विराजित विभूति माँहिं
रजमयी महि क्यों रजतवती बनती ॥ ४ ॥

कैसे वास बनत असन को बिधान होत
विविध-सुपास के बसन कैसे सिलते।
दीपक क्यों दिपत दिखात तमपुंज माँहिं
निकसति कैसे सुधा-सागर-सलिलते।
'हरिऔध' जो न काम धुन होति कामुक मैं
राख माँहिं कनक-कनूके कैसे मिलते।
कैसे मरुभूमि फल-मूल-अनुकूल होति
धूल मैं क्यों परम अनूठे फूल खिलते ॥ ५ ॥

साधक की साध सारी साधना निकेतन है
सिद्धि बिना 'इति' है न साहसी के 'अथ' मैं।
संगिनी सफलता सफल-करतूत की है
विजय विराजति है कर्म समरथ मैं।
'हरिऔध' सारी बाधा बाधति अबाध गति
भू मैं बिचरत बीर बैठि भूति-रथ मैं।
पार करिलेत है अपार पारावार हूँ को
मानत न हार है पहार परे पथ मैं ॥ ६ ॥

काम-धुन-वारो कौन काम है न साधि लेत
वाको सारो काम किये साधना सरत है।
धरा मैं धँसत पैठि जात है पतार हूँ मैं
विहरत नभ मैं दिसा मैं परसत है।
'हरिऔध' संभव बनावत असंभव को
लोक को अलौकिक विभूति वितरत है।
बूझ-बल नागर करत है अनागर को
सूझ-बल गागर मैं सागर भरत है ॥ ७ ॥

तोरि दैहै पवि को मरोरि दैहै मेरु-दण्ड
मरुता महान मरु-महि की निवरि है।
दूरिकै प्रखर-पवनातप प्रकोप-ताप
अवरोधि-पावक पयोधि पार परि है।
'हरिऔध' बाधा परे साध-भरे-साधन मैं
कर्मवीर बाधक अबाध-गति हरि है।
दरि है दिगन्त-दन्तिकुल को दुरन्त दाप
प्रबल प्रहार कै पहार चूर करि है ॥ ८ ॥

भूरि-भाग-भाजन न भाजत सभीत बनि
बहि बहि भारन भरत भव-धाम है।
कसि कै कमर कौन समर करत नाहिं
अजर अमर ह्वै रखत कुल-नाम है।
'हरिऔध' कर्म-वीर पीछे ना धरत पग
बीछे बीछे पथ पै अरत बसु-जाम है।
जमदूत-जोरा-जोरी कियेहूँ जुरत जात
कालहूँ की छोरा-छोरी छोरत न काम है ॥ ९ ॥

कैसे मुख लालिमा रहति लोक-कामना की
काम की लगन-कृति कालिमा न खोती जो।

कैसे भव-सुख-लाभ-तरु पल्लवित होत
बीज हितकारिता के वीरता न बोती जो।
'हरिऔध' कैसे धरा धारति उधार-व्रत
धीर-मति धाम-धाम का मल न धोती जो।
कैसे अवनी में बड़े कमनीय काम होते
काम-धुनवारे में न काम-धुन होती जो॥ १०॥

तजत काज अपनो नहीं लहत विजय को हार।
हार न मानत साहसी सिर पर गिरे पहार॥ १॥
परि कंटक-बाधान में होत चौगुनो-चेत।
काज-कंज-सुमिलिन्द बनि बीर-वृन्द रस लेत॥ २॥
जन निज बल ते बनि बली होत भूति को भौन।
किये भरोसो भाग को भागवान भो कौन॥ ३॥
पावन चरित सजीव-जन है जग जीवन-मूरि।
ताप निवारत कर-परस पाप हरत पग-धूरि॥ ४॥
करतूती कर-तल परसि मुकुत कहावत पोत।
रजत बनति रज-राजि है कनक लौह-कन होत॥ ५॥
गुन-आगर-जन मणि लहत पहुँचत उरग समीप।
मोती ते गागर भरत लहि सागर को सीप॥ ६॥
दूर होत घर-घर तिमिर जगति जगत में जोति।
तेजवंत तरवा परसि नवनी अवनी होति॥ ७॥
सबल-बाहु-वैभव मिले सकल होत अनुकूल।
कंटक-जाल कलित-कुसुम बनत रसाल बबूल॥ ८॥
है अवित्त को वित्त बहु हरत कुपित को पित्त।
सचल बनावत अचल को परम अविचलित चित्त॥९॥
मानस-बल बलवान-तन संकट पावत छू न।
नावक बनत मयंक-कर पावक बनत प्रसून॥ १०॥

वियोगी हरि

जन्म—चैत्र शुक्ल रामनवमी, संवत् १९५३ वि० । जन्म-स्थान—छतरपुर राज्य (बुंदेलखंड) ।

इनका पूर्व नाम हरिप्रसाद द्विवेदी था । संवत् १९७८ वि० में इनके जीवन-क्रम में अकस्मात् ऐसा व्याघात उपस्थित हो गया कि संसार से विरक्ति लेकर ये संन्यासी हो गये । ये अविवाहित हैं और संन्यासाश्रम के अनुसार इनका नाम श्रीहरितीर्थ है । कालान्तर में दुःखावेग से इन्होंने अपना नाम वियोगी हरि स्वीकार किया और अब साहित्य-क्षेत्र में ये इसी नाम से प्रसिद्ध हैं ।

वियोगी हरिजी प्रकृति से गम्भीर होने पर भी साहित्य-रसिक हैं । भक्ति, विनय, प्रेम और विरह के भाव इनके साहित्य में अतीव सजीव रूप में व्यक्त हुए हैं । इनकी अधिकांश कविताएँ ब्रजभाषा में हैं । इनके लिखे कुछ पद तो इतने उत्कृष्ट हैं कि उनमें सूरदास का रस-रंग मिलता है । संत कवियों का इनकी कविता पर कहीं-कहीं कुछ प्रभाव भी झलकता है, यद्यपि कथन के प्रकार में ये सर्वथा मौलिक रहे हैं । इनका गद्य भी बड़ा ही प्रौढ़ होता है । 'सम्मेलन-पत्रिका' तथा 'पतित-बन्धु' नामक पत्रों के सम्पादन में इनका भाव-प्रवण तथा मननशील साहित्यकार अतीव सुन्दर रूप में दृष्टिगत हुआ था । इन्होंने अनेक गद्य-काव्य बहुत ही मर्मस्पर्शी शैली में लिखे हैं । हिन्दी में तो वे अपने रूप में सर्वथा मौलिक और नवीन हैं । इनके द्वारा रचित, सम्पादित तथा संगृहीत पुस्तकों की संख्या तीस से ऊपर है । आजकल ये दिल्ली से निकलनेवाले साप्ताहिक पत्र 'हरिजन-सेवक' के सम्पादक हैं । इन्होंने लोकोपकार-वृत्ति का जैसा प्रचार अपने साहित्य के द्वारा किया है, वैसा ही इनका 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' सात्त्विक जीवन भी है ।

जहाँ तक वीर-रस की कविता का सम्बन्ध है, 'वीर सतसई' के रूप

में इनका रचनात्मक कार्य यद्यपि अपेक्षाकृत अल्प ही है, तथापि उत्कृष्टता में वह इतने महत्त्व का माना गया है कि उस पर सम्मेलन से १२००) रुपये का मंगलाप्रसाद-पारितोषिक प्रदान किया जा चुका है। इस काव्य में वीर भावों के उत्तेजन में भावना को तीव्र बनाने की चेष्टा तो समुचित मात्रा में पाई जाती है, किन्तु मनुष्य की सूक्ष्म वृत्तियों के साथ उनका सम्यक् समन्वय नहीं हो पाया है। यही कारण है कि कवि का कथन पाठक की चेतना पर जो आघात करता है, वह अपेक्षाकृत अधिक स्थायी न होकर एक चमत्कार की ही सृष्टि कर के रह जाता है।

शूरवीर

खंड-खंड ह्वै जाय बरु, देतु न पाछें पेंड़।
लरत सूरमा खेत की मरत न छाँड़तु मेंड़ ॥ १ ॥
सहज सूर रण-चूर-उर, चाहिय चातक-चाह।
चाहिय हारिल हठ, वहै चाहिय सती-उमाह ॥ २ ॥
खलखंडन, मण्डन-सुजन, सरल, सुहृद, सविवेक।
गुण-गँभीर, रण-सूरमा मिलतु लाख में एक ॥ ३ ॥
खल-घालक, पालक-सुजन, सुहृद, सदय, गम्भीर।
कहूँ एक सत लाख में 'प्रकृत सूर' रण-धीर ॥ ४ ॥
मुँह माँगे रण-सूरमा देतु दान परहेतु।
सीस-दान हूँ देतु पै पीठि-दान नहिं देतु ॥ ५ ॥
कहत महादानी उन्हैं चाटुकार मति कूर।
पीठिहुँ कौं नहिं देत जे कृपण दान रण-सूर ॥ ६ ॥
कहतु कौन रण में तुम्हैं धीर-बीर सरदार।
लखि रिपु बिनु हथयार जो देत डारि हथयार ॥ ७ ॥
आजु कहूँ तौ कल कहुँ, नाहिं एक विश्राम।
करतु सिंह-सम सूरमा ठौर-ठौर निज ठाम ॥ ८ ॥
तंत न तोरत अंत लौं, बचन निबाहत सूर।
कहा प्रतिज्ञा पालिहैं कपटी कादर कूर ॥ ९ ॥

बचन-सूर केते यहाँ, करतब-कोरे कूर।
साँचो तो कहुँ लाख में, लख्यौ एक रण-सूर ॥ १० ॥

दयावीर

किधौं त्याग-गिरि-शृंग कै, भाव-जान्हवी-कूल।
किधौं करुण-रस-सिंधु यह, दया-बीर मुद-मूल ॥११॥
दया-धर्म जान्यौ तुहीं, सब धर्मनु कौ सार।
नृप शिवि ! तेरे दान पै बलि, हूँ बलि सौ बार ॥१२॥
तूँही या नर-देह कौ, बलि पारखी अनूप।
दया-खङ्ग-मरमी तुहीं, दयासूर शिवि भूप ॥१३॥
दल्यौ अहिंसा-अस्त्र लै, दनुज-दुःख करि युद्ध।
अजय-मोह-गज-केसरी, जयतु तथागत बुद्ध ॥१४॥
रण-थल मूर्छित स्वामि के, लीनें प्राण बचाय।
गीधनु निज तनु माँसु दै, धन्य संयमाराय ॥१५॥
फैंकि-फैंकि निज मांसु लिय संभरि-राय बचाय।
है तूँ शिवि तें घटि कहा, सुभट संयमाराय ॥१६॥

सत्यवीर

सुन्दर सत्य-सरोज सुचि, बिगस्यौ धर्म-तड़ाग।
सुरभित चहुँ हरिचंद कौ जुग-जुग पुन्य-पराग ॥१७॥
मृतरोहित-पट-दानु लै, धार्‌यौ धर्म अमन्द।
खङ्ग-धार-ब्रत-धीर धनि, सत्य-बीर हरिचंद ॥१८॥
फूँकन देंतु न मृत सुवनु, माँगतु तिय-तनु-चीर।
निरखि नृपति सत-धर्म-धृति, धृति हूँ भई अधीर ॥१९॥
पद्मा-पति-पटपीत क्यों, खस्यौ नीर-निधि-तीर !
पतिहिं फारि शैव्या दियौ, निज-अँग-आधो चीर ॥२०॥
बेंचि प्रियै, प्रिय पूतहूँ, भयौ डोम-गृह-दास।
सत्यसंध हरिचंद ! तूँ, सहज सुसत्यप्रकास ॥२१॥

जौ न जन्म हरिचंद कौ, होतो या जग माँह ।
जुग-जुग रहति असत्य की, अमिट अँधेरी छाँह ॥२२॥
इत गाँधी, उत सत्य दोउ, मिले परस्पर चाहि ।
यह छाँड़तु नहिं ताहि त्यौं, वह छाँड़त नहिं याहि ॥२३॥
धनि, तेरी तप-धीरता, धनि गुण-गण-गम्भीर ।
या कलि में गांधी ! तुहीं, इक सत्याग्रह-वीर ॥२४॥
नहिं विचल्यौ सतपंथ तें सहि असह्य दुख-द्वंद ।
कलि में गाँधी-रूप ह्वै, पुनि प्रगट्यौ हरिचंद ॥२५॥

धर्मवीर

धन्य ओरछो जहँ भयौ, धर्म-वीर हरदौल ।
दिये प्राण सत-धर्म पै, पालि वीर-व्रत नौल ॥२६॥
धर्मवीर हरदौल जू ! अजहुँ तुम्हारे गीत ।
ह्याँ घर-घर तिय गावतीं, समुझि सनातन रीत ॥२७॥
हँसत-हँसत निज धर्म पै, दियौ जु सीस चढ़ाय ।
धर्म-समर में मरि भयौ, अमर हकीकतराय ॥२८॥
दयानंद ! आरज-पथिक ! यतिवर श्रद्धानन्द !
जगि है तुम्हरे रुधिर तें जुग-जुग धर्म अनन्द ॥२९॥

विरहवीर

तजि सरबसु रसबसु कियौ, जिन्ह जग-गुरु गोपाल ।
भाव-भौन-धुज धन्य वे, विरह-वीर व्रज-बाल ॥३०॥
साध्यौ सहज सुप्रेम-व्रत, चढ़ि खाँड़े की धार ।
विरह-वीर व्रज-बाल हीं, रसिक-मेंड़-रखवार ॥३१॥
धन्य वीर व्रजगोपिका, तजी न रस की मेंड़ ।
हेल-खेल तें अन्त लौं दियौ न पाछे पेंड़ ॥३२॥

दानवीर

किधौं उच्च हिमश्रृंग-वर, किधौं जलधि गम्भीर।
किधौं अटल ध्रुव-धाम कै, दानवीर मति-धीर ॥३३॥
सुरतरु लै कीजै कहा, अरु चिन्तामणि-ढेरु।
इक दधीचि की अस्थि पै, वारिय कोटि सुमेरु ॥३४॥
चिंतामनि सौ लख कहा, कोटिन कनक-पहाड़।
त्रिभुवन माँहि सराहियै, ऋषि दधीचि कौ हाड़ ॥३५॥

युद्धवीर

केसरिया बागो पहिरि, कर कङ्कन उर माल।
रण-दूलह! बरि लाइयौ, दुलहिन विजय-सुबाल ॥३६॥
औघट घाट कृपाण कौ, समर धार बिनु पार।
सनमुख जे उतरे तरे, परे बिमुख मँझधार ॥३७॥
पैरि पार असिधार कै, नाखि युद्ध-नद-भीर।
भेदि भानु-मण्डलहिं अब, चल्यौ कहाँ रण-धीर ॥३८॥
दीठि-विमुख ह्वै ढीठ वै, गिनत न ईठ-अनीठ।
घालत दै-दै पीठ सर, तानि-तानि सर-पीठ ॥३६॥
धनि-धनि सो सुकृतीव्रती, सूर-सूर सत-संध।
खड्ग खोलि खुलि खेत पै, खेलतु जासु कबंध ॥४०॥
प्रतिपालक निज पैज के, खलघालक रिपु-जैत।
बल-बाँके बानैत हीं, होत बिसद बिरुदैत ॥४१॥
लरतु काल सों लाख में, कोइ माई को लाल।
कहु केते करवाल कों, करत कंठ-कलमाल ॥४२॥
कहाँ सूर समरत्थ जो, समर-दानु बढ़ि लेतु।
कौन काल-करबाल कों, किलकि कलेऊ देतु ॥४३॥
धन्य भीम! रणधीर तूँ, धरि अरि छाती पाव।
भरि अँजुरिनि शोणितु पियौ, उन मूँछनि दै ताव ॥४४॥

धन्य कर्ण ! रिपु-रक्त सों, दियौ पूरि रण-कुण्ड ।
करि कंदुक अति चाव सों, उछरि उछारे मुण्ड ॥४५॥
सहज बजावनु गाल त्यौं, सहज फुलावनु गाल ।
काल-गाल में रिपु-दलैं, कठिन गेरिबो हाल ॥४६॥
प्रान हथेरी पर धरें, किये ओज-मद-पान ।
तवर-तीर-तरवार लै, चले जूझिवे ज्वान ॥४७॥
रण सुभट्ट वै भट्ट लौं, गहि असि काटत मुण्ड ।
उठि कबन्ध जुट्टत कहूँ, कहुँ लुट्टत रिपु-रुण्ड ॥४८॥

प्रकृतवीर

प्रकृतिबीर कौ अंतहूँ, परतु मन्द नहिं तेज ।
नहिं चाहतु चन्दन-चिता, भीष्म छांड़ि शर-सेज ॥४६॥
औसर आवत प्रान पै, खेलि जाय गहि टेक ।
लाखनु बीच सराहियै, प्रकृत बीर सो एक ॥५०॥
सुमृदु सिरीष-प्रसून तें, कठिन बज्र तें होय ।
प्रकृत बीर-बर-हीय कौ, चित्र न खींच्यौ कोय ॥५१॥

वीर-प्रतिज्ञा

हौं हूँ सिंह-कुमार जो, वह खल गज मदमंत ।
कुंभहिं नखनु बिदारिहौं, अरु उखारिहौं दंत ॥५२॥
हौं हूँ आजु अगस्त्य जो, वह अभिमान-समुद्र ।
ताहि अँचैहौं अंजुरिनु, सहज सोखिहौं छुद्र ॥५३॥
हौं हूँ मघवा-वज्र जो, वह खल भूधर-शृङ्ग ।
दैहौं खेह मिलाय यौं, चूर-चूर करि अङ्ग ॥५४॥

बुन्देलखण्ड

इतहूँ तौ रण-चण्डिका, वैसोइ खेली खेल ।
राजथान ते घटि कहा, हमरो खंड बुंदेल ॥५५॥

यह सुभूमि सोनित-सनी, यह पहार यह धार।
हम बुँदेल-खंडीनु कों, यहँईं स्वरग-बिहार ॥५६॥
लोटि-लोटि ब्रज्राङ्ग मे, जँह चँदेल बुंदेल।
जन्म जन्म ता भूमि पै, प्रभु खिलाइयौ खेल ॥५७॥
देखि ओरछा भौन ए, बिमल बेतवै तीर।
सुनि हरदौल-कथा अजौं, मनु ह्वै जातु अधीर ॥५८॥
भूपति मधुकर साह-से, बीरसिंह-से बीर।
जँह बिहरे बिचरे यहँ, वही बेतवा तीर ॥५९॥
ओही तुंगारण्य यह, वही बेतवा गंग।
वही ओरछा पै कहाँ, यहाँ आजु वह रंग ॥६०॥
झाँसी दुर्गम दुर्ग धनि, महिमा अमित अनूप।
जहाँ चंचला अवतरी, प्रगट चंडिका-रूप ॥६१॥
धनि रण-मत्त गठेवरा, गौरव-गरब-निकेत।
हमरे खंड बुँदेलकौ, साँचेहुँ तूँ कुरुखेत ॥६२॥
है यह वही गठेवरा, जहाँ जूझि मजबूत।
रहे खेत गृह-युद्ध में, सवा लाख रजपूत ॥६३॥
है यह वही गठेवरा, जहँ अखंड बल-चंड।
खंड-खंड गृह-युद्ध तें, भयौ बुँदेला-खंड ॥६४॥
यहिं आल्हा-ऊदल लरे, भिरे मरद मलखान।
यही महोबा-भूमि है, उन बीरनु की खान ॥६५॥
सह-प्रताप आरावली, सहित सिवा सह्याद्रि।
चंद्र-चंद्रिका इव सदा, छत्रसाल बिंध्याद्रि ॥६६॥

पद्मिनी-जौहर

वह चितौर की पद्मिनी, किमि पैहौ सुलतान।
कब सिंहिनि-अधरानु कौ कियौ स्वान मधुपान ॥६७॥

चंचरीक ! चित्तौर में, नहिं पैहै रसजाल ।
ह्वै है चंपक-माल-लौं, तोहिं पद्मिनी बाल ।।६८।।
भई भस्म जहँ पद्मिनी, आरज-धर्म समोय ।
यज्ञ-अग्निहूँ ते अधिक, पावनु पावकु सोय ।।६९।।
जा दिन जौहर तें जगी, ज्वाल-माल अति चंड ।
जन हीतल सीतलकरन, प्रगट्यौ जग श्रीखंड ।।७०।।
केहि कारन सेवतु सुरुचि, नित नवीन समसानु ।
जहँ तहँ जौहर की भसम, ढूँढतु संभु सुजानु ।।७१।।
क्यों न धारिहैं सीस पै, वह जौहर की राख ।
भव-तनु-भूषन भसम तें, जो पुनीत गुन लाख ।।७२।।
लिखे न केते सुमृति में, व्रत-बिधान सबिवेक ।
पै जग-जाहिर जंग कौ, व्रत जौहर बस एक ।।७३।।

विविध

करै जाति स्वाधीन जो, साँचो सोइ सुपूत ।
यौं तौ कहु केते नहीं, कायर कूर कुपूत ।।७४।।
फरति न हिम्मत खेत में, बहति न असि-व्रत-धार ।
बल बिक्रम की बोरियाँ, बिकति न हाट बजार ।।७५।।
कठिन राम कौ काम है, सहज राम कौ नाम ।
करत राम कौ काम जे, परत राम सों काम ।।७६।।
पावस ही में धनुष अब, सरित-तीर ही तीर ।
रोदन ही में लाल दृग, नौरस ही में बीर ।।७७।।

हरदयालुसिंह

श्रीहरदयालुसिंह जी का जन्म संवत् १६५०, वैशाख मास में महमूदाबाद, जिला सीतापुर में हुआ। कानपुर के क्राइस्ट-चर्च-कालेज में आपने एफ० ए० तक अध्ययन किया। इसके सिवा घर में आप संस्कृत का अध्ययन बराबर करते रहे।

आपका प्राचीन ब्रजभाषा-साहित्य का अध्ययन बड़ा गम्भीर और ठोस है। आपकी मतिराम-मकरन्द, देवदर्शन, पूर्णपद्माकर आदि रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। इन प्राचीन काव्यों का सम्पादन आपने विद्वत्ता के साथ किया है।

आपने संस्कृत के कई नाटकों का अनुवाद किया है, जिसमें वेणीसंहार, नागानन्द और भास नाटकों के अनुवाद विशेष उल्लेखनीय हैं। इन अनुवादों में मूल का-सा आनन्द आता है।

अभी हाल ही में आपका १८ सर्गों में लिखित 'दैत्यवंश' नामक ब्रजभाषा का महाकाव्य निकला है। इसमें दैत्यवंश की उत्पत्ति, समुद्र-मन्थन, देवासुर-संग्राम, स्कन्द का राज्य आदि के आख्यान बड़े रोचक ढंग से लिखे गये हैं। देवासुर-संग्राम में वीररस का अच्छा परिपाक हुआ है। इस महाकाव्य पर आपको श्रीमान ओरछा-नरेश द्वारा २०००) का देवपुरस्कार भी मिल चुका है।

तारक निधन

प्रातहिं नव-जलधर-बपुष, मनहुँ अपर नगराज।
चढ़ि मतङ्ग तारक असुर, कियो युद्ध की साज॥

अंकुस हन्यौ महावत जबहीं। धायो कोपि मत्तगज तबहीं॥
कुंजर सीस जबहि सर लागे। किय चिक्कार बाजि सुनि भागे॥
खैंचि लगाम सारथी हारे। ठहरत तुरँग न भय के मारे॥
सैन मध्य सोहत गज कैसे। मथत सिन्धु कज्जल गिरि जैसे॥

तेहि विलोकि सुर निकर डराने। केतिक आयुध डारि पराने ॥
खरभर मच्यो ब्यूह सब टूटे। साहस सपदि देव हिय छूटे ॥
रथनि शुण्ड गहि गज फटकारै। चापि पदाति चरन तर डारे ॥
सम्मुख आय वीर सर जोरत। तारक विसिखि सबन सिर फोरत ॥

(२)

दोहा—विकट दैत्य की मारुतें, कोऊ धरयौ न धीर।
भिडरि भगे रनखेत ते, बड़े बड़े बल वीर ॥

भागन लगे देवगन जबहीं। कियो संखधुनि तारक तबहीं ॥
सिंहनाद करि हाँक सुनायौ। है कोउ सुभट जो सम्मुख आयौ ॥
अखिल देवकुल मारि गिरायो। एकछत्र बालि राज करायो ॥
देववंस नहिं एक उबारौं। सेनासहित आजु सब मारौं ॥
अपनो दल डोलत जब ताक्यौ। मत्त महिष आगे जम हाँक्यौ ॥
महिष दुरद सोहत रन कैसे। लड़त जुगल कज्जल गिरि जैसे ॥
एकहि गदा सीस जम दयऊ। पाँच पैगि पाछे गज गयऊ ॥
गदा घाव गजराज संभारयौ। झझकि सीस आगे पगु धारयौ ॥

(३)

दोहा—जमहिं लरत यहि भाँति लखि, तारक गहि कोदंड।
निसित विसिख बरसाय बहु, कियो दंड जुग खंड ॥

अस्त्रहीन जम कहँ लखि पायो। हँसि तारक इमि वचन सुनायो ॥
अंतक! धनु सँभारि निज लीजै। सावधान मोसैं रन कीजै ॥
अस सुनि जिय जमराज लजान्यो। सर संधानि सरासन तान्यो ॥
छाँड्यो विषम बान उर लाग्यो। क्रोध अनल तारक जिय जाग्यो ॥
कामुक कोपि स्रवन लगि ताना। लाग्यो वीर चलावन बाना ॥
या विधि सों तारक सर छाँड्यो। अवनि अकास विसिख तें पाट्यो ॥
इते बान वाहन तन हयेऊ। महिष अपर साही बनि गयेऊ ॥
भल्लुक बान कोपि कर लीन्हें। ते सर चोट सीस पर कीन्हें ॥

(४)

दोहा—विपुल बिसिख बरसाय इमि, कीन्ह्यो सैन विनास।
मारयो तीछन बान उर, मुरछि गिरे कीनास॥
तारक हरषि संखधुनि कीन्ह्यो। कुंजर पेलि महावत दीन्ह्यो॥
भागैं वीर लखैं कहुँ बाट न। लाग्यो विकट कटक सो काटन॥
निरखत पथ बानन सौं तोपा। सिंधुर बदन चल्यो करि कोपा॥
भये महा मूषक असवारा। करत भूरि रव घोर चिकारा॥
चहुँ दिसि क्रोधित परसु प्रहारत। सनमुख जेहि पावत तेहि मारत॥
तारक गनपहिं लरत निहारी। धाये रुद्र कोप करि भारी॥
सब मिलि घेरि तारकहिं लीन्ह्यो। महा मारु तेहि ऊपर कीन्ह्यो॥
वृषभनि मध्य लसत गज कैसे। जमुना मिलीं गंग महँ जैसे॥

(५)

दोहा—अरु सोनित स्यन्दित अवनि, सो सरसुति सम लाग।
वीरन कौ रन भूमि इमि, पग-पग होत प्रयाग॥
अंकुस हनत कोप गज कीन्ह्यो। पकरि सुंड गजमुख की लीन्ह्यो॥
खैंचन लग्यो अमित बल-धारी। दियो काटि रद परसु प्रहारी॥
सोनित स्रवत सोह तन कारे। जनु कज्जल गिरि गेरु पनारे॥
दिरद रदन या विधि ते टूटे। गनपति महाँ कष्ट सों छूटे॥
इतै रुद्र तारक चहुँ घेरी। लागे करन मारु बहुतेरी॥
दीर्घ करन तेहि रच्छन धायो। पै गजमुख बीचहिं अटकायो॥
परसु प्रहार गजानन कीन्ह्यों। दन्त उपारि असुर एक लीन्ह्यों॥
विकल सकल तनु सुंड हिलावत। धावत इत उत वचन सुनावत॥

(६)

दोहा—पवन अरुन द्रग सों लरत, विद्युत जीह कृसानु।
असिलोमा जलपति लरैं, अन्धकार सौं भानु॥
गनपहिं इमि रन विमुख विलोकी। रिस कालिका सकी नहिं रोकी॥

तिन गजमुख कहँ पाछे घाल्यो। आगे सिंह कोपि करि चाल्यो॥
गुहा सरिस मुख विकट पसारे। दसन कढ़े अरु जीभ निकारे॥
कर तीछन करवाल उठाये। केस कलाप चहूँ बगराये॥
सोनित दृगन कढ़त जनु ज्वाला। पहिरे गर मुण्डन की माला॥
हरिहिं हेरि गज भगत निहारयो। अंकुस सीस महावत मारयो॥
ताहू पर ठहरत सो नाहीं। अति भय सहमि गयो मन माहीं।
तड़पत सिंह सहित तेहि देखी। भयो अमित भय गजहिं विसेखी॥

(७)

दोहा—धरत न पग आगे द्विरद, थाक्यो अंकुस मारि।
पग तारक संकेत सों, सांकरि दीन्ह्यो डारि॥

निज सम्मुख कलिकाहिं निहारयो। तारक धनुष हाथ सों डारयो॥
कुंतल कह्यो" "अहो महराजा। अपन अकाज करत केहि काजा॥
हरि करि कुम्भ अवसि चढ़ि ऐहै। असि प्रहारि तिय तुमहिं गिरैहै।
याते नाथ विलम्ब न कीजै। मारि बिछाय अबहिं यहि दीजै।"
तारक कह "कत वचन उचारत। वीर न तीर तिया पै डारत॥
याते अस्त्र प्रहारि न दैहौं। निज कुल-कलित कलंक न लैहौं॥"
लख्यो निडर बैठ्यो तेहिं जबहीं। बोली कड़कि कालिका, तबहीं॥
"लेहि धनुष किन मूढ़ सँभारी। आइ गई बस मीचु तिहारी॥"

(८)

दोहा—कह तारक "हम तियनि पै, कबहुँ न डारत तीर।
भेजु सपदि तापस-सुतहिं, बनत बड़ो जो वीर॥"

सुनि इमि गिरा वीर रस सानी। लौटि गई रन त्यागि भवानी॥
पुनि तारक कीन्हो धनु धारन। लाग्यो देव चमू-चय मारन॥
साँकरि खैंचि महावत लीन्ह्यो। पेलि गयन्द कटक पर दीन्ह्यो॥
मंगल बुध देखत यह धाये। दोउ निज बाजिनि ऐंड़ लगाये॥
दोउ करि कुम्भ कोपि चढ़ि गयेऊ। बुध निज कुंत प्रहारत भयेऊ॥
सो लाग्यौ हौदा महँ जाई। इमि तारक तन चोट न आई॥

मंगल खड्ग प्रहारन कीन्ह्यो। तारक घाव ढाल पर लीन्ह्यो॥
टूट्यो खड्ग मूठि कर लीन्हें। लौट्यौ वीर नमित मुख कीन्हें॥

(९)

दोहा—वेगवन्त रथ पै चढ़े, तुंग धुजा फहरात।
धरि धनुसर कर संभु-सुत, आवत परयो लखात॥

निरखि कुमारहिं सनमुख ठाढ़ा। तारक हृदय कोप अति बाढ़ा॥
"ढूँढ्यों तोहिं असुर-कुलघाती। अबहिं संहारि जुड़ावहुँ छाती॥"
अस कहि विषम बान संधाना। स्रवन-प्रयन्त सरासन ताना॥
कह गुह "दैत्य कहा बौरायो। अन्तिम समय रावरो आयो॥
जाके बल तुम्हरे मद भारी। जा बल अमित सैन संहारी॥
एकहि बान ताहि संहारौं। समर खेलाय तुमहिं पुनि मारौं॥
अस कहि ब्रह्म बान कर लीन्हा। पढ़ि कै मन्त्र फोंक पर दीन्हा॥
कुम्भस्थल तकि मारत भयेऊ। भेदि सीस बाहर सर गयेऊ॥

(१०)

दोहा—गज गिरतहिं तारक असुर, गह्यो कठिन करवाल।
धायो संभु—कुमार दिसि, मनहु दूसरो काल॥

बलकत वचन कहत बहुतेरे। दृग स्रोनित करि भौंह तरेरे।
"तापस-सुवन! सँभरि रथ माहीं। आयो काल नेकु सक नाहीं॥"
लखि निज सत्रु सामुहे आयो। अर्धचन्द्र सर कोपि चलायो॥
सिर लै गयो गगन नाराचा। कर करवाल रुंड महिं नाचा॥
एक हाथ यहि भाँति प्रहारयो। गुह-जुग-तुरँग काटि महि डारयो॥
षटमुख निसित विसिख कर लीन्ह्यो। अरु जुग खण्ड रुण्ड के कीन्हयो॥
गिरयो कबंध अवनि पर आई। मनहुँ पवन गिरि सृंग गिराई।
धँसि गइ धरा भार बहु पाई। दियो सेष निजफनहिं नवाई॥

दोहा—इमि तारकहिं गिराय रन, संभुकुमार प्रवीन।
कियो संखधुनि जाहि सुनि, सैन सिविर मग लीन॥

—'दैत्यवंश' से

रामचन्द्र शुक्ल 'सरस'

'सरस' जी ब्रजभाषा के कुशल कवि हैं। आपके काव्य में पुरातन संस्कृति के गौरव की अमिट छाप है। रीतिकालीन कवियों की परम्परा पर चलकर आपने सैकड़ों छन्द इतने सुन्दर लिखे हैं कि उनके पाठ के समय सैकड़ों वर्ष पूर्व के काव्य-विनोद का वातावरण समक्ष मूर्तिमान हो उठता है। पहले आप खड़ी बोली में लिखते थे। आपकी अधिकांश खड़ी बोली की रचनाएँ 'चाँद' में प्रकाशित हुई हैं। आपकी खड़ी बोली की कविताओं का एक संग्रह "सरस-संकलन" के नाम से प्रकाशित हो चुका है। परन्तु अपने भ्राता, ब्रजभाषा-साहित्य के आचार्य और श्रेष्ठकवि पंडित रामशंकर शुक्ल 'रसाल' एम० ए०, डी० लिट् के अनुरोध से आप ब्रजभाषा में लिखने लगे। तब से बराबर आप ब्रजभाषा में ही लिखते हैं। आपने युक्तप्रान्त में होने वाले सैकड़ों कवि-सम्मेलनों के लिए समस्या-पूर्ति के रूप में, अतीव सुन्दर रचनाएँ लिखी हैं। किन्तु प्रचार से आप उदासीन रहे। 'अभिमन्यु-वध' आपका एक सुन्दर खण्ड-काव्य है। इसमें वीररस का अच्छा परिपाक हुआ है। इसके अतिरिक्त आपकी साहित्य के विविध अंगों पर काव्य-मीमांसा, सरस पिंगल, तथा साहित्य-विकास आदि कई उपादेय पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इधर अनेक वर्षों से आपने लिखना बन्द-सा कर रक्खा है। आपने हास्य-रस में भी कुछ कविताएँ इतनी सुन्दर लिखी हैं कि उन्हें पढ़कर हँसते-हँसते पेट फूल जाता है।

अभिमन्यु का युद्ध के लिये प्रयाण

(१)

एहो ! वीर सारथी ! चलौ तौ 'जै मुरारि' बोलि,
रारि मोल और अब रंचक न लैहौं मैं।
'सरस' बखानै, त्यौं पुरानौ सबै लेखा लेखि,
दैहौं हाथ खोलि कछू बादि ना करैहौं मैं॥

सत्र ✻ समक्ष लच्छ आँधि कोटि जोरि जोरि,
धनु लै समूल चक्र-ब्याज दरि दैहौं मैं।
काल नियरायौ है, निधन करि बैरिन कौं,
रिन कौं निबेरि त्यौं अबेरि ही चुकैहौं मैं॥

(२)

जै जै पूज्य-पारथ-सपूत ! सुनौ, बोल्यौ सूत,
रावरी रजायसु हमारैं सिरमाथ हैं।
द्रौन रनपंडित अखंडित-प्रताप-दाप,
कूट-नीति-मंडित प्रतापी कुरु-नाथ हैं॥
वीर व्रतधारी साहसी ह्वै, चाप-धारी आप,
बैस सुकुमारी, काज भारी लिये हाथ हैं॥
'सरस' बखानैं, करैं किन्तु औ परन्तु यातैं,
जानत हूँ साथ मैं अनाथनि के नाथ हैं॥

(३)

मम प्रति प्रेम औ कृपा कौ रावरौ जौ भाव,
भाव चित सूतजू ! सदासो सरस्यौ करै।
'सरस' बखानैं, यौं प्रमानै है सुभद्रानंद,
सोई मुख-चन्द सुधा-बैन बरस्यौ करै॥
लेखत अबै लौं सुकुमार हमैं आये अरु,
देखत कुमार-रूप हिय हरस्यौ करै।
यातैं तुम बीरता न धीरता हमारी लखौ,
साँची कहैं जैसौ भाव तैसौ दरस्यौ करै॥

(४)

राघव-कुमार लव-कुस के चरित्र चारु,
नैसुक पवित्र हे सुमित्र ! चित्त आनियै॥

'सरस' बखानें, राम-लखन कुमारनि की,
　　　　वीरतादि बालमीकि-ग्रन्थ सौं बखानियै ॥
मृग-पति-सावक कौं जैसे गजराज-जोग,
　　　　जग-जन मानैं त्यौं हमैं हूँ आप मानियै ।
बैस माँहि जानियै भले ही हमैं ऊन किन्तु,
　　　　न्यून और काहू माँहि काहू सौं न जानियै ॥

(५)

इम सुनि राखी सत्य-भाखी मुख भाखी यह,
　　　　यह जग-जाल पच गीतिक प्रपंच है ।
'सरस' बखानैं, त्यौं इहाँ कौ सबै कारबार;
　　　　सार-हीन बात मैं बनायौ मनौ पंथ है ॥
तन मन सारौ छन ही मैं छय होन वारौ,
　　　　इन सब मैं तौ सत्व-हीन तत्व पंच है ।
राखत जय-श्री कौ उछाह जस-देह-याह,
　　　　और परवाह वीर राखत न रंच है ॥

(६)

निज अभिमान, मान औ गुमान हूँ की हम,
　　　　सूतजू ! अपूत छल-छूत की बखानैं ना ।
'सरस' कहै, त्यौं कुल-कानि-आनि ही की कहैं,
　　　　साँची कहैं ही की ही; स्वभाव की प्रमानैं ना ॥
अतुल बली जौ तात-मातुल प्रचारैं क्रुद्ध,
　　　　तौहूँ जुद्ध जोरैं हम खेद मन आनै ना ।
द्रोन, कृप, कर्न, कृतबर्म, कुरुराज कहा,
　　　　हम जमराज के बबा सौं भीति मानैं ना ॥

(७)

पुनि अभिमन्यु कह्यौ, देखौ सूत ! बैरिन सौं,
'त्राहि त्राहि पारथ-सपूत' यौं कढ़ैहौं मैं ।
'सरस' बखानै, आजु देखत अखंडल कैं,
बंस-महिमा यौं महि-मंडल मढ़ैहौं मैं ॥
छाँटि भट वीरनि कौं काल-कुंड पाटि-पाटि,
काटि-काटि मुंड मुंडमाली पै चढ़ैहौं मैं ।
वीरनि कैं पिंजर मैं बमकत बीरनि कौं,
वीरनि लौं आनि राम-राम ही पढ़ैहौं मैं ॥

(८)

खलबल भारी खल-बल मैं मचैगो जब,
बाननि की विकट घनाली घिरि जायगी ।
'सरस' बखानै, यौं प्रमानै अभिमन्यु वीर,
परि रथ चाल मानुहूँ की थिरि जायगी ॥
हलचल ह्वै है अचला को चलकारी इमि,
जातैं फनि-पति की फनाली फिरि जायगी ।
काया-जुद्ध भूमि माँहि यह गिरि जायगी कै,
आज धर्मराज की दुहाई फिरि जायगी ॥

(९)

करत मनोरथं यौं रथ पै सुभद्रा-सुत,
वीर-रस कैसो अवतार नयौ साजै है ।
'सरस' बखानै, संग सैन सूर-वीरनि की,
ताकैं ज्यौं विभाव-भाव लै प्रभात राजै है ॥
आयौ पास समर-थली कैं रथ माहिं बली,
चौंकि रिपु-सैन चली सोचि भानु भाजै है ।

लखि अभिमन्यु कौं जितै के तेति तैके रहे,
चकित चितै के रहे सोचि को विराजै है ॥

(१०)

पेखि अभिमन्यु कौं समन्यु कहै कोऊ यह
गेय कीर्तिकेय को अजेय अवतार है।
मूरति विलोकि सौम्य 'सरस' प्रमाने कोऊ,
ओज भरौ साँचौ यह मार-सुकुमार है ॥
गौरव विचारि कहै कोऊ यह कौरव कौ,
प्रगट्यौ पराभव भयङ्कर अपार है।
कोऊ त्यौं बखानै, अभिमन्यु वेष-धारी विष्णु,
विष्णु सेस-सायी बन्यौ पारथ-कुमार है ॥

---

(२) खड़ी बोली

लाला भगवानदीन

जन्म श्रावण शुक्ल ६, संवत् १९२३ वि० निधन १९८७। जन्म-स्थान बरबट, ज़िला फ़तहपुर; निवास-स्थान काशी।

लाला जी हिन्दी के प्राचीन काव्य-शास्त्र के उद्भट विद्वान, मर्मज्ञ टीकाकार ब्रजभाषा और खड़ी बोली के एक प्रतिष्ठित कवि और अपने युग के सम्मान्य सुलेखक थे। उनका अलंकार पर लिखा हुआ ग्रन्थ "अलंकार-मंजूषा" एक ऐसी सुबोध पुस्तक है, जो अनेक दृष्टियों से अलंकार-शास्त्र के विद्यार्थियों के लिए चिरकाल तक अतीव उपयोगी और पठनीय रहेगी। रामचन्द्रिका, कविप्रिया, रसिकप्रिया, कवितावली तथा बिहारी सतसई की टीकाएँ लाला जी ने बड़े ही प्रामाणिक ढंग से लिखी हैं और पुरातन हिन्दी काव्य के प्रेमी जनों तथा हिन्दी-साहित्य के उच्च श्रेणी के विद्यार्थियों में वे बहुत महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं।

'वीर पंचरत्न' लाला जी की एक सुन्दर वीर-रसपूर्ण रचना है। इसकी भाषा बड़ी सरल, ओजपूर्ण अतीव प्रवाहमयी है। इस प्रान्त के ग्रामीण समाज में तो उसका अत्यधिक मान है। इसके अतिरिक्त लाला जी ने 'वीर क्षत्राणी' और 'वीर बालक' नामक दो और काव्य-ग्रन्थ लिखे हैं।

लाला जी एक निस्पृह साहित्य-सेवी थे। काशी हिन्दू-विश्व-विद्यालय में रहकर अपने प्राचीन साहित्य के अध्ययन तथा अनुसन्धान में अत्यधिक ख्याति प्राप्त की है।

आल्हा-ऊदल

करतूत हो जिस मर्द की हर व्यक्ति को भाती।
सुनते ही उमंग उठती हो उत्साह से छाती॥
भुजदंडों को फड़काती हो, ओंठों को कँपाती।
वीरत्व की लाली से हो नेत्रों को रँगाती॥

निज देश में हर व्यक्ति से शाबाश! कहा दे।
है कौन कृतघ्नी जो भला उसको भुला दे?॥१॥

वीरत्व से हो जिसने अचल कीर्ति कमाई।
निज देश को निज शक्ति की करतूत दिखाई॥
वीरत्व पै रंगत हो नई जिसने चढ़ाई।
निज देश के बच्चों को हो शुभ-सीख सिखाई॥

उसका ही सुभग यश तो है वाणी का सहारा।
लिखने में कलम मोद से है मस्त हमारा!॥२॥

रहते थे महोवे में जो दो वीर बनाफर।
देवल के युगुल पुत्र थे, परमाल के चाकर॥
ऊदल था महावीर तो आल्हा था अमर नर।
था शारदा देवी का मिला उनको यही वर॥

इन दोनों की करतूत सुनाता हूँ तुम्हें आज।
बचपन में किया दोनों ने वीरत्व का जो काज॥३॥

मांडा में रहा करता था इक वीर बघेला।
करता था विकट बल से समर-भूमि में रेला॥
परमाल को 'कर' देता न था एक अधेला।
माहिल ने बनाया था उसे अपना सुचेला॥

रणभूमि में दसराज को उसने ही मारा।
देवल का छिना ले गया इक हार पियारा॥४॥

उस वक्त बहुत छोटे थे देवल के युगुल पूत।
कर सकते न थे युद्ध में वीरत्व की करतूत॥
देवल के महादुःख का उस वक्त न था कूत।
पर धीर से बच्चों को बनाने लगी मजबूत॥
जंगल में लिवा जाती थी आखेट कराने।
हथियार चलाना लगी निज कर से सिखाने॥५॥

सिखलाती हिरन मारना, रीछों को भगाना।
दंती को दबाना, कभी सूकर को गिराना॥
बाघों की विकट घात से बकरों को बचाना।
सिंहों का सिरोही से भी सत्कार कराना॥
घोड़े पै चढ़ाकर कभी नालों को लंघाती।
दौड़ाते हुए अश्व को पर्वत पै चढ़ाती॥६॥

सिखलाती थी तेग़ा से भी चौरंग उड़ाना!
और सैफ़ से निम्बू के भी दो टूक बनाना!
भाले से भी निज माथ की टिकुली को गिराना!
तीरों से भी इक बाल-बंधी लौंग उड़ाना!
दोनों को बनाती कभी दो फौजों के नायक।
और आप बना करती थी ऊदल की सहायक॥७॥

इस तरह से दोनों से रणाभास कराती।
यों वीर प्रवर होने की सब सीख सिखाती॥
आल्हा को दबा कर कभी ऊदल को जिताती।
ऊदल को भगाकर कभी आल्हा को बढ़ाती॥
सब युद्ध के करतव्य स्वयं उनको सिखाये।
माता के जो करतव्य हैं, सब करके दिखाये॥८॥

माता ही का कर्तव्य है कुल-धर्म सिखाना।
बालक के हृदय-धाम को मनमाना बनाना॥

निज बुद्धि से हर बात का सब मर्म बताना।
निज धर्म का सब मर्म सहज ही में सुझाना॥
चाहे तो सुवन अपने को अमरेश बना दे।
अमरेश तो क्या चाहे तो उससे भी बढ़ा दे॥६॥

देवल को तो हम धन्य कहेंगे इसी कारण।
विधवा थी मगर खूब किया धीर को धारण॥
कुलधर्म न छोड़ा न किया खेद अकारण।
मालिक के भी दुख करती रही बुद्धि से वारण॥
पुत्रों को भी कुलधर्म चतुरता से सिखाया।
कर्तव्य जो क्षत्रानी का था, करके दिखाया॥१०॥

माता की सुशिक्षा से युगुल भ्रात बने यों।
रस रौद्र सहित वीर बने चंद के कर ज्यों॥
थे युद्ध में ज्यों वीर तो धर्मज्ञ भी थे त्यों।
फिर हम भी सुयश इनका निडर हो न लिखें क्यों॥
सब वीर किया करते हैं सम्मान क़लम का।
वीरत्व का यश-गान है, अभिमान क़लम का॥११॥

परमाल के दरबार में दोनों का बढ़ा मान।
सब दुष्ट जिसे देख के होने लगे हैरान॥
माहिल ने विचारा कि करूँ इनको परेशान।
वश चल न सकैगा मेरा, हो जायेंगे सब ज्वान॥
दुष्टों की य पहचान है संतों ने बताई।
वे देख नहीं सकते विभव-बुद्धि पराई॥१२॥

ऊदल को किसी रोज य माहिल ने जताया।
"क्या जानों तुम्हें किसने पिताहीन बनाया?
माता को किया रांड सकल माल छिनाया।
तुम वीर बने फिरते हो, धिक्कार है काया।

यदि वीर हो निज बाप का बदला तो चुकालो।
पितु-शत्रु को हनि दिल की उमंगों को निकालो ॥१३॥

क्षत्री का नहीं धर्म है, बलहीन को मारै।
निज गांव की गलियों ही में वीरत्व बघारै।
पनिघट पै बुरी दृष्टि से पनिहारी निहारै।
ढीली सी कसै लांग अजब मांग संवारै॥
ग्रामीण प्रजा पर ही सबल शक्ति लगा दे।
ऊँचों के घृणा, नीचों के चित्त भीति जगा दे ॥१४॥

जिस क्षत्री ने निज बाप का बदला न चुकाया।
पितु-शत्रु को हनि मातु का जियरा न जुड़ाया॥
जननी व जनम-भूमि का अपमान कराया।
निज वंश का निज जाति का यश कुछ न बढ़ाया॥
उस क्षत्री का होना है, न होने के बराबर।
बस जानो उसे एक भराभार सरासर" ॥१५॥

यह सुनते ही ऊदल के हुए नेत्र अँगारा।
"बतलाओ तो किसने है मेरे बाप को मारा?"
माहिल ने कहा "मैंने सुना था सो उचारा।
निज मातु से जा पूँछिये वृत्तान्त य सारा" ॥
था दिल में कपट; "इनको करिंगा से जुझाऊँ।
स्वच्छन्द महोबा में डटा चैन उड़ाऊँ" ॥१६॥

ऊदल ने तुरत जाके स्वमाता को सुनाया।
'माहिल ने मुझे आज अजब भेद जनाया॥
बतला तो तुझे किसने है यो रांड़ बनाया?
किसने है मेरे बाप को सुरधाम पठाया?
बतलाती नहीं तू तो मैं भोजन न करूंगा।
सौगंद तेरो, दम में गला काट मरूंगा" ॥१७॥

देवल ने तुरत भांप ली माहिल की खोटाई।
फिर धीर सहित पुत्र को यह बात सुनाई॥
"माहिल को नहीं जानता ? है गूढ़ चवाई।
इस हाल के सुनने की समैया नहीं आई ?
सोला ही बरस की है अवस्था अभी तेरी।
यह हाल सुनाऊँ अभी मरजी नहीं मेरी" ॥१८॥

सुनते ही उदयसिंह ने निज किर्च निकाली।
हठ करके विकट क्रोध से छाती से अड़ाली॥
"बतला दे, नहीं करता हूँ दुनिया अभी खाली।
बस 'नाहीं' कही मैंने इधर घप के धँसाली"॥
यह देख, झपट हाथ पकड़ किर्च छिनाई।
रोते हुए ऊदल को सकल बात सुनाई॥१९॥

मांडा के करिंगा ने तेरे बाप को मारा।
नौलाख का इक हार मेरे उर से उतारा॥
था अश्व 'पपीहा' जो तेरे बाप का प्यारा।
था हाथी 'विजयगज' भी सुभग भाग्य का तारा॥
सब लूट के मांडा में है आनन्द मनाता।
माहिल है उसे भेद महोबा का बताता" ॥२०॥

सुनते ही उदयसिंह का चेहरा दमक आया।
आंखों में दिखाई पड़ी कुछ मौत की छाया॥
कुछ भौंह तनी ओंठ से दांतों को दबाया।
धड़का जो कलेजा तो उठी कांप सी काया॥
माता के युगुल पैरों पै निज सीस नवाया।
आकाश की दिशि हाथ उठा बैन सुनाया॥२१॥

"चाहे कोई दे साथ मेरा चाहे रहे दूर।
ऋण तेरे अमर दूध का चुकता करूं भरपूर॥

रणखेत में मस्तक न करिंगा का करूं चूर ।
तो वंश बनाफर पै पड़े सेर दशेक धूर ॥
बोटी जो करिंगा की न चील्हों को खिलाऊँ ।
तो लौट महोबा पै कभी मुँह न दिखाऊँ ॥२२॥

फिर अश्व 'पपीहा' जो न पैंड़ा (१) में बंधाऊँ ।
और प्यारे 'विजयगज' को न द्वारे पै झुमाऊँ ॥
नौ लाख का वह हार न फिर तुझको पिन्हाऊँ ।
उस दुष्ट करिंगा का न यम-धाम झकाऊँ ॥
मांडा का नगर खोद न गदहों से जोताऊँ ।
तो लौट महोबा में कभी मुँह न दिखाऊँ" ॥२३॥

फौरन ही निकल घर से दिया युद्ध का डंका ।
मलखान व आल्हा भी जुड़े सुनते ही हंका ॥
मीरां भी मिला आके सखा शूर अशंका ।
देवा भी तुरत आ गया जो वीर था बंका ।
इन पांच युवक वीरों ने मिल सैन सजाई ।
मांडा पै चढ़े बोल के "जय शारदा माई" ॥२४॥

यह देख के देवल ने विकट रूप बनाया ।
कंधे पै पड़ी ढाल कड़ाबीन कसाया ॥
लटकाया तवर, तेगा भी कम्मर से लगाया ।
बिछुवा था छिपा चोली में, भाला भी उठाया ॥
इस ओर सिरोही थी उधर किर्च कटारी ।
घोड़े पै चढ़ी, साथ में मांड़ा को सिधारी ॥२५॥

कुछ दूर पै मांडा के निकट सैन उतारी ।
देवल ने अजब ढंग से की रण की तैयारी ॥
कुछ वीरों को व्यौपारी बनाया बड़ा भारी ।
उत्तर में पड़े जाके अजब भेष संवारी॥

इस भाग पथिक-भेष से दक्खिण में जमाया।
इक योगियों के भेष से पच्छिम में डटाया ॥२६॥

फिर पांचों युवक-वीरों को योगी सा बनाकर।
और आप भी योगिन का सुभग भेष सजाकर ॥
लेने के लिये भेद सकल ग्राम घुमाकर।
उत्साह भरैं जिससे युवक वीर बनाकर ॥
इक छोटी सी टुकड़ी को लिये ग्राम में आई।
फिर घूम के लड़ने की सकल घात लखाई ॥२७॥

घुड़साल में जा घोड़े 'पपीहा' को निहारा।
लखते ही 'पपीहा' के बही आँसु की धारा ॥
फिर जाके 'विजयगज' को लखा धीर को मारा।
वटवृक्ष लखे फिर न रहा क्रोध संभारा ॥
दसराज की जब खोपड़ी लटकी हुई पाई।
क्रोधाग्नि भभक चित्त की बस आंख में आई ॥२८॥

देवल के विलोचन से बही अश्रु की धारा।
यह देख के उन वीरों ने उत्साह संभारा।
ऊदल ने जो पाया ज़रा आल्हा का इशारा।
क्षत्री की तरह दर्प से यह बैन उचारा—
"करिया की खोपड़ियों के जो टुकड़े न उड़ाऊँ।
दसराज-सुवन आज से हर्गिज न कहाऊँ ॥२९॥

मीरां ने झपट बाटिका राजा की उजारी।
की दौड़ के आल्हा ने 'पपीहा' पै सवारी ॥
देवा की बजी सिंगी विकट नाद से भारी।
मलखान ने वह खोपड़ी निज कर से उतारी ॥
देवल ने उधर खोपड़ी सीने से लगाली।
ऊदल ने स्वरक्षा के लिये सैफ़ निकाली ॥३०॥

सिंगी का सुना शब्द हुई सैन भी तैयार।
उस ओर करिंगा ने सुने सारे समाचार॥
सेना लिये बस आ गया रणखेत में ललकार।
और गूंज गई खेत में हथियारों की झनकार॥
उस वक्त की हूँ सारी कथा तुमको सुनाता।
भारत के युवक-वीरों का हूँ दृश्य दिखाता॥३१॥

देवल थी बनी दुर्गा तो भैरव सा था मलखान।
देवा का व मीरां का भी यों ही करो अनुमान॥
तुम चाहते हो करना अगर उम्र की पहचान।
भीजी हैं मसें सब को है मूँछों ही का अरमान॥
आल्हा था षड़ानन तो बटुक रूप था ऊदल।
दिखलाने को तैयार थे क्षत्रित्व का कस, बल॥३२॥

उस ओर 'करिंगा' था निकट वीर बघेला।
अति युद्ध-निपुण करता था रणखेत में रेला॥
'जम्बा' था विकट वीर लड़े सौ से अकेला।
था वीर 'अनूपी' जो करै खेत में हेला॥
सूरज था महा तेजा तो 'रंगा' था रंगीला।
'बंगा' भी विकट वीर था अत्यन्त हठीला॥३३॥

"इक पुत्र मुसलमान का यों बाग उजारै!
इक बाल बनाफर का विजय-चिन्ह उतारै!
बच्चा सा बनाफर मेरे पैंड़ा में बिहारै!
लै अश्व-पपीहा को सहज ही में सिधारै!"
इन बातों को कर याद करिंगा भी हुआ लाल।
और क्रोध के बस बन गया यमराज सा विकराल॥३४॥

बस होने लगी मार इधर से भी उधर से।
सन्नाते हुए तीर निकलने लगे सर से॥

कोई तो कटा कंठ से और कोई कमर से।
बस खून के फौवारे उछलते थे जिगर से ॥
मस्तक पै लगा तीर तो चिग्घारता हाथी।
हय हींसते, चिल्लाते, सबल शब्द से भाथी ॥३५॥

बस डेढ पहर युद्ध में तीरों की हुई मार।
और वीर हजारों हुए निज धर्म पै बलिहार ॥
बढ़ते ही गये आगे को हर ओर के सरदार।
और धूप से मालूम हुई प्यास की झंकार ॥
था चाटता कोई तो पसीना ही बग़ल का।
लेता था कोई रक्त ही से काम सुजल का ॥३६॥

हर ओर के वीरों ने यही दिल में विचारा।
मरना ही समरभूमि में है धर्म हमारा ॥
मरता है य वीरों का जथा प्यास का मारा।
तब क्यों न बहा देवै भला खून की धारा ॥
तलवार के ही धार तो अब पानी बचा है।
निश्चय ही वही होगा जो ईश्वर ने रचा है ॥३७॥

यह सोच के हर वीर ने तलवार निकाली।
बिजली थीं हजारों कि सहस जीभ कीराली ॥
उस धूप की तेजी में चमक आई निराली।
दिखलाई किधौं काल ने निज घोर रदाली ॥
चिल्ली सी चमक देख चकाचौंध सी आती।
जिस ओर नज़र फेरते उस ओर दिखाती ॥३८॥

जिस ओर लपक जाते थे वे वीर बनाफर।
लगते थे बरसने वहीं बूंदों की तरह सर ॥
छू जाते ही तलवार के था, हंस हवा पर।
दो टूक हो रह जाती थी बस देह धरा पर ॥

मलखान की आल्हा की भी ऊदल की भी तलवार।
कवि कौन लहै पैर प्रशंसा की नदी पार! ॥३९॥

चिल्ली की चची बन के तो गजमाल कतरतीं।
पावक की बनीं पुत्रिका पैदल को पकरतीं॥
मौसी सी बनीं मौत की असवार को धरतीं।
काकी सी बनी काली की रणकेलि सी करतीं॥
थीं चूमती तलवार जो इन्हें सीस पै लेता।
जो कंठ लगाता इन्हें बस प्राण ही देता॥४०॥

कंधे से लगीं आन में पांजर से हुईं पार।
पैदल हुआ दो टूक तो चौटूक है असवार॥
बिजली की बनी बेटी सी करती थीं बिकट मार।
कहने में लगै देर, न करने में लगै बार॥
सिर छूते ही असवार का थीं तंग के नीचे।
पैदल का छुवा सीस तो थीं रान दुबीचे॥४१॥

बस डेढ़ पहर करके महाघोर घमासान।
ऊदल ने अनूपी के व सूरज के लिये प्रान॥
आल्हा ने भी जम्बा को कराया महा-प्रस्थान।
और काल करिंगा का बना युद्ध में मलखान॥
इस युद्ध में देवल ने भी हथियार उठाये।
'रंगा' के सहित बंगा के वाले से उड़ाये॥४२॥

ऊदल ने करिंगा का झपट शीश उठाया।
निज क्रोध के आवेश में भाले से बंधाया॥
माता के हवाले किया, गढ़ ओर को धाया।
नौलाख का वह हार भी रानी से छिनाया॥
निज साथ 'विजयगज' को लिये सैन में आया।
अति भक्ति सहित माता के यह शीश नवाया॥४३॥

फिर अश्व पपीहा के नई नाल जड़ाई।
टापों से वहीं खोपड़ी करिंगा की फोड़ाई ॥
फिर उसकी कतर लोथ भी चील्हों को खिलाई।
खुदवा के गढ़ी मांड़ा की चौराई बोवाई ॥
इस भाँति युवक वीर ने निज पन को निबाहा।
बदला लिया निज बाप का, कर शत्रु का स्वाहा ॥४४॥

मैथिलीशरण गुप्त

जन्म संवत् १९४३ वि० । निवास-स्थान चिरगाँव, झाँसी ।

गुप्त जी भारत की पुरातन संस्कृति समर्थक, अतीत के गौरव गायक खड़ी बोली के सब से अधिक लोकप्रिय कवि हैं। खड़ी बोली की काव्यानुरूप गण-प्रतिष्ठा करने में आपका अध्यवसाय, और प्रतिभा दोनों का ही बहुत बड़ा हाथ रहा है। आपकी भाषा व्याकरण-सम्मत और परिष्कृत होती है। अतीत के वैभव-गान में आपने जिन चरित्रों को ग्रहण किया है, उनके चित्रांकण में सार्वजनीन और शाश्वत मानवी वृत्तियों की अभिव्यञ्जना अपनी स्वाभाविक सुन्दरता में चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुई है।

यों तो गुप्त जी के ग्रंथों की संख्या तीस के लगभग है। किन्तु 'साकेत', तथा यशोधरा उनके ऐसे काव्य हैं, जो अपने गुणों से हिन्दी काव्य की प्रतिष्ठा स्थिर रखने में सदा समर्थ रहेंगे। कुणाल के गीत उनका एक नवीन काव्य है। इस वृद्ध जीवन में भी गुप्त जी ने उसमें अपनी जिस प्रतिभा की उंचाई का निर्वाह किया है, वह सर्वथा अभिनन्दनीय है।

वीर भावों की सृष्टि में कवि के जिस विद्रोही रूप का सर्वाधिक दर्प रहता है, गुप्त जी को कविता में उसकी अभिव्यञ्जना अपेक्षाकृत कम है। फिर भी देशोत्थान मूलक और चरित्रों का यशोगान करने वाली उनकी अनेक कविताओं में वीर भावों का सुन्दर परिपाक हुआ है।

जयद्रथ-वध

१—उस ओर था भूरिश्रवा से वीर सात्यकि लड़ रहा।
झंझानिल-प्रेरित जलद ज्यों हो जलद से अड़ रहा॥
बहु युद्ध करने से प्रथम ही था यद्यपि सात्यकि थका।
पर देख अर्जुन को निकट उत्साह से वह था झुका।

२—उस काल दोनों में परस्पर युद्ध वह ऐसा हुआ ;
है योग्य कहना बस यही अद्‌भुत वही वैसा हुआ ।
सब वीर लड़ना छोड़ क्षण भर देखने उसको लगे ;
कह धन्य धन्य पुकार कर सब रह गये गुण पर ठगे ।

३—रथ अश्व दोनों के शरों से साथ दोनों के मरे ;
व्रण-पूर्ण दोनों हो गये तो भी न वे मन में डरे ।
करने लगे फिर क्रुद्ध दोनों बाहु-युद्ध विशुद्ध यों ;
युग गिरि सपक्ष समक्ष हों लड़ते विपक्ष-विरुद्ध ज्यों ।

४—लड़ते हुए सात्यकि हुआ जब अमित शोणित से सना ,
तब खंग से भूरिश्रवा ने शीश चाहा काटना ।
पर वार ज्योंहीं कर उठा कर वेग से उसने किया ,
त्यों ही धनंजय के विशिख ने काट उसका कर दिया ।

५—करवाल युत-जब केतु सम भूरिश्रवा का कर गिरा ,
सब शत्रु तब कहने लगे इस कार्य को अनुचित निरा ।
वृषसेन, कर्ण, कृपादि ने धिक्कार अर्जुन को दिया—
"धिक धिक धनंजय ! पाप मय दुष्कर्म यह तुमने किया" ।

६—बोले वचन तब पार्थ उनसे लीन होकर रोष में—
"क्या निज जनों का त्राण करना संमिलित है दोष में" ?
मेरा नियम यह है जहाँ तक बाण मेरा जायगा ,
अपने जनों को आपदा से वह अवश्य बचायेगा ।

७—नास्तिक मनुज भी विपद में करते विनय भगवान से,
देते दुहाई धर्म की त्यों आज तुम भी ज्ञान से ॥
लज्जा नहीं आती तुम्हें उपदेश देते धर्म का ?
आती हँसी तुम पापियों पे नाम सुन सत्कर्म का ।

८—'देखे बिना निज कर्म पहले बोध देना व्यर्थ है'
होता नहीं सद्धर्म कुछ उपदेश के ही अर्थ है ॥

तुम सात ने जब वध किया था एक बालक का यहाँ ;
रे पामरो ! तब यह तुम्हारा धर्म था सारा कहाँ ?
६—पापी मनुज भी आज मुंह से राम नाम निकालते !
देखो भयंकर भेड़िये भी आज आँसू डालते !!
आजन्म नीच अधर्मियों के जो रहे अधिराज हैं—
देते अहो ! सद्धर्म की वे भी दुहाई आज हैं !!!
१०—सुनकर वचन यों पार्थ के चुप रह गए वैरी सभी ;
दोषी किसी के सामने क्या सिर उठा सकते कभी ?
भूरिश्रवा का वध किया ले खंग सात्यकि ने वहीं;
'जिसकी सिरोही सिर उसी का' उक्ति यह करदी सही ॥
११—उत्साह संयुत उस समय ही भीम आ पहुंचे वहाँ ;
मिलकर चले फिर शीघ्र सब था सिंधुराज छिपा जहाँ ।
पहुँचे तथा जब वे वहाँ निज मार्ग निष्कंटक बना ;
कृप, कर्ण, शल्य, द्रोण से करना पड़ा तब सामना ॥
१२—खल शकुनि दुःशासन सहित जो जानता छल कर्म को ;
पहुँचा वहीं कुरुराज भी पहने अलौकिक वर्म को ।
पीछे जयद्रथ को लिये दृढ़ व्यूह सा आगे बना ;
करने लगे संग्राम वे करके विजय की कामना ॥
१३—लड़ते वरुण-पद्मेश युत देवेंद्र दैत्यों से यथा,
लड़ने लगे अरजुन वहाँ पर भीम-सात्यकि युत तथा ।
दोनों तरफ से छूटते थे बाण विद्युत खंड ज्यों ;
अति घोर मारुत-तुल्य रव थे कर रहे कोदंड त्यों ॥
१४—रथ अश्व भी मिलकर परस्पर सामने बढ़ने चले ।
थे एक पर वे एक मानों चोट कर चढ़ने चले ।
थे वीर यों शोभित सभी रँग कर रुधिर की धार से;
होते सुशोभित शैल ज्यों गैरिक छटा-विस्तार से ।

१५—इस ओर थे ये तीन ही, उस ओर वे छै सात थे ;
तिस पर असंख्यक शूर उनके कर रहे आघात थे।
पर कर रहे वर वीर ये वीरत्व व्यक्त विशेष थे ;
मानों प्रबल तीनों बली विधि विष्णु और महेश थे ॥

१६—तब कर्ण ने दश दश शरों से विद्ध कर हरि-पार्थ को,
दर्शित किया मानों वहाँ दुगुने प्रबल पुरुषार्थ को।
पर सूत, हय रथ और उसका नष्ट करके चाप भी ;
कर चौगुना विक्रम हुए शोभित धनंजय आप भी ॥

१७—तत्काल ही फिर लक्ष्य करके कर्ण के वर वक्ष को ;
छोड़ा कपिध्वज ने कुपित हो एक बाण समक्ष को।
पर बीच ही में द्रोणसुत ने काट उसको बाण से ;
जाते हुए लौटा लिये उस वीर वर के प्राण से ॥

१८—फिर एक साथ असंख्य शर सब शत्रुओं ने मार के ;
नरसिंह अर्जुन को किया ज्यों पंचरस्थ प्रचार के।
पर भस्म होता है यथा ईंधन कराल कृशानु से ;
ऐंद्रास्त्र से कर नष्ट वे शर पार्थ प्रगटे भानु से ॥

१९—टंकार ही निर्घोष था, शर वृष्टि ही जल वृष्टि थी ;
जलती हुई रोषाग्नि से उद्दीप्त विद्युद्दृष्टि थी।
गांडीव रोहित रूप था, रथ ही सशक्त समीर था ;
उस काल अर्जुन वीर वर अद्भुत जलद गंभीर था ॥

२०—थे दिव्य वर पाये हुए सब शत्रु थे पूरे बली ;
अतएव वे भी स्थित रहे सह पार्थ शर धारा बली।
इस ओर यों हीं हो रहा जब युद्ध यह उद्दंड था ;
उस ओर अस्ताचल निकट तब जा चुका मार्तंड था ॥

२१—फिर देखते ही देखते वह अस्त भी क्रम से हुआ ;
कब तक रहेगा वह अटल जो क्षीणबल श्रम से हुआ ?

प्रण पूर्ण पार्थ न कर सके रवि प्रथम ही घर को गया।
संभावना ही थी न जिसकी हाय ! यह क्या हो गया॥

२२—उस काल पश्चिम ओर रवि की रह गई बस लालिमा ;
होने लगी कुछ कुछ प्रगट सी यामिनी की कालिमा।
सब कोक गण शोकित हुए विरहाग्नि से डरते हुए ;
आने लगे निज निज गृहों को विहँग रव करते हुए॥

२३—यों अस्त होना देख रवि का पार्थ मानों हत हुए ;
मुँदते कमल के साथ वे भी विमुद, गौरव हत हुए।
लेकर उन्होंने श्वास ऊँचा बदन नीचा कर लिया ;
संग्राम करना छोड़ कर गांडीव रथ में रख दिया॥

२४—'पूरी हुई होगी प्रतिज्ञा पार्थ की इससे सुखी ;
पर चिह्न पाकर कुछ न उसके व्यग्र चिंतायुत दुखी।
राजा युधिष्ठिर उस समय दोनों तरफ़ क्षोभित हुए ;
प्रमुदित न विमुदित उस समय के कुमुद सम शोभित हुए।

२५—इस ओर आना जान निशि का ये मुदित निशिचर बड़े ;
उस ओर प्रमुदित शत्रुओं के हाथ मूछों पर पड़े।
दुर्योधनादिक कौरवों के हर्ष का क्या पार था ;
मानो उन्होंने पालिया त्रैलोक का अधिकार था॥

२६—बोला जयद्रथ से वचन कुरुराज तब सानंद यों ;
हे वीर ! रण में अब नहीं तुम घूमते स्वच्छंद क्यों।
अब सूर्य्य के सम पार्थ को भी अस्त होते देख लो ;
चल कर समस्त विपक्षियों को व्यस्त होते देख लो।"

२७—कह कर वचन कुरुराज ने यों हाथ उसका धर लिया ;
कर्णादि के आगे तथा उसको खड़ा फिर कर दिया।
उस काल निर्मल मुकुर-सम उसका बदन दर्शित हुआ ;
पाकर यथा अमरत्व वह निज हृदय में हर्षित हुआ।

२८—खल शत्रु भी विश्वास जिनके सत्य का यों कर रहे ;
निश्चित निर्भय, सामने ही मोद नद में तर रहे ॥
है धन्य अर्जुन के चरित को धन्य उनका धर्म है !
क्या और हो सकता अहो ! इससे अधिक सत्कर्म है।

२९—वाचक ! विलोको तो ज़रा है दृश्य क्या मार्मिक अहो !
देखा कहीं अन्यत्र भी क्या शील वो धार्मिक कहो ?
कुछ देख कर ही मत रहो, सोचो विचारो चित्त में ;
बस तत्व है अमरत्व का, वर-वृत्त रूपी चित्त में ॥

३०—यह देख लो ; निज धर्म का सम्मान ऐसा चाहिए ;
सोचो हृदय में सत्यता का ध्यान जैसा चाहिए।
सहृदय जिसे सुन कर द्रवित हो चरित वैसा चाहिए ;
अति भव्य भावों का नमूना और कैसा चाहिए।

३१—क्या पाप की ही जीत होती, हारता है पुण्य ही ?
इस दृश्य को अवलोक कर तो जान पड़ता है यही।
धर्मार्थ दुःख सहे जिन्होंने, पार्थ मरणासन्न हैं ;
दुष्कर्म ही प्रिय हैं जिन्हें वे धार्तराष्ट्र प्रसन्न हैं।

३२—परिणाम सोच न भीम सात्यकि रह सके क्षण भर खड़े ;
हा कृष्ण ! कह हरि के निकट बेहोश होकर गिर पड़े।
यों देख कर उनकी दशा दृग बन्द कर अरविंद से ;
कहने लगे अर्जुन वचन इस भाँति फिर गोविंद से।

३३—"रहते हुए तुम सा सहायक प्रण हुआ पूरा नहीं ;
इससे मुझे है जान पड़ता भाग्य बल ही सब कहीं !
जल कर अनल में दूसरा प्रण पालता हूँ मैं अभी ;
अच्युत ! युधिष्ठिर आदि का अब भार है तुमपर सभी।

३४—"संदेश कह दीजो यही सबसे विशेष विनय भरा ;
खुद ही तुम्हारा जन धनंजय धर्म के हित है मरा।

तुम भी कभी निज प्राण रहते धर्म को मत छोड़ियो;
वैरी न जब तक नष्ट हों मत युद्ध से मुँह मोड़ियो।
३५—थे पांडु के सुत चार ही यह सोच धीरज धारियो;
हों जो तुम्हारे प्रण नियम उनको कभी न विसारियो।
है इष्ट मुझको भी यही यदि पुण्य मैंने हों किये;
तो जन्म पाऊँ दूसरा मैं वैर शोधन के लिए।
३६—कुछ कामना मुझको नहीं है इस दशा में स्वर्ग की;
इच्छा नहीं रखता अभी मैं अल्प भी अपवर्ग की।
हा! हा! कहाँ पूरी हुई मेरी अभी आराधना!
अभिमन्यु विषयक वैर की है शेष अब भी साधना।
३७—कहना किसी से और मुझको अब न कुछ संदेश है,
पर शेष दो जन हैं अभी जिनका बड़ा ही क्लेश है।
कृष्णा सुभद्रा से कहूँ क्या! यह न ही तो ज्ञात है;
मैं सोचता हूँ किंतु हा! मिलती न कोई बात है।
३८—जैसे बने समझा बुझाकर धैर्य्य सबको दीजियो;
कह दीजियो मेरे लिए मत शोक कोई कीजियो।
अपराध जो मुझसे हुए हों वे क्षमा करके सभी;
कृपया मुझे तुम याद करियो स्वजन जान कभी कभी।
३९—हा धर्मधीर अजात शत्रो! आर्य भीम! हरे! हरे!
हा प्रिय नकुल! सहदेव भ्रातः! उत्तरे! हा उत्तरे!
हा देवि कृष्णे! हा सुभद्रे! अब अधम अर्जुन चला;
धिक है—क्षमा करना मुझे मुझसे हुआ रिपु का भला!
४०—जैसा किया होगा प्रथम वैसा हुआ परिणाम है;
माधव विदा दो बस मुझे अब बार-बार प्रणाम है।
इस भाँति मरने के लिए यद्यपि नहीं तइयार हूँ;
पर धर्म बंधन बद्ध हूँ मैं क्या करूँ लाचार हूँ।
४१—इस भाँति अर्जुन के बचन श्रीकृष्ण थे जब सुन रहे;

हँसकर जयद्रथ ने तभी ये विष वचन उनसे कहे।
गोविंद! अब क्या देर है? प्रण का समय जाता टला;
शुभ कार्य जितना शीघ्र हो है नित्य उतना ही भला॥

४२—सुनकर जयद्रथ का कथन हरि को हँसी कुछ आ गई;
गम्भीर श्यामल मेघ में विद्युच्छटा सी छा गई।
कहते हुए यों—वह न उनका भूल सकता वेश है—
हे पार्थ! प्रण पालन करो, देखो अभी दिन शेष है॥

४३—हो पूर्ण जबतक पार्थ-प्रति प्रभु का कथन ऊपर कहा,
तब तक महा अद्भुत हुआ यह एक कौतुक सा अहा!
मार्तंड अस्ताचल निकट घन-मुक्त सा देखा गया।
है जान सकता कौन हरि का कृत्य नित्य नया-नया?

४४—था पार्थ के हित के लिए यह खेल नटवर ने किया,
दिन शेष रहते सूर्य को था अस्त सा दिखला दिया।
अनुकूल अवसर पर उसे फिर कर दिया यों व्यक्त है,
वह भक्तवत्सल भक्त पर रहता न कब अनुरक्त है॥

४५—तत्काल अर्जुन की अचानक नींद मानों हट गई;
सब हो गई उनको विदित माया महा विस्मय मयी।
अवलोक तब हरि को उन्होंने एक बार विनोद से;
निकटस्थ शीघ्र उठा लिया गांडीव अति आमोद से॥

४६—इस स्वप्न के से दृश्य से सब शत्रु विस्मित रह गये;
कर्तव्य मूढ़ समान वे नैराश्य नद में बह गये।
उस काल उनका तेज मानों पार्थ को ही मिल गया;
तब तो सदा से सौगुना मुख शीघ्र उनका खिल गया॥

४७—हो भीम सात्यकि भी सजग आनंद-रव करने लगे;
निज यत्न निष्फल देख कर बैरी सभी डरने लगे।
तब संमुख स्थित जाल गत जो था हरिण सा हो रहा,
उस खल जयद्रथ से कुपित हो यों धनंजय ने कहा॥

४८—"रे नीच ! अब तैयार हो तू शीघ्र मरने के लिए।
मेरा यही अवसर समझ प्रण-पूर्ण करने के लिए।
है व्यर्थ चेष्टा भागने की मृत्यु का तू ग्रास है ;
भज 'राम नाम' नृशंस अब तब काल पहुँचा पास है।"

४९—गति देख अन्य न एक भी निज कर्म के दुर्दोष से,
करने लगा तत्क्षण जयद्रथ शस्त्र वर्षा रोष से।
आशा नहीं रहती जगत में प्राण रहने की जिसे,
उसका भयंकर वेग सहसा सह्य हो सकता किसे !

५०—पर पार्थ ने सह ली व्यथा सब शत्रु के आघात की,
आनंद के उत्थान में रहती नहीं सुध गात की।
गांडीव से तत्काल वे भी बाण बरसाने लगे,
जो उग्र उल्का खंड से चंडच्छटा छाने लगे॥

५१—कर्णादि ने की व्यक्ति फिर भी युद्ध कौशल की कला,
पर हो गई चेष्टा विफल सब, बस न कुछ उनका चला।
विचलित दलित करता द्रुमों को प्रबल झंझानिल यथा,
सब शत्रुओं को पार्थ ने पल में किया विह्वल तथा॥

५२—फिर पुष्प माला युक्त मंत्रित दिव्य द्युति के ओघ सा ;
रक्खा धनंजय ने धनुष पर बाण एक अमोघ सा।
क्षण भर उसे संधानने में वे यथा शोभित हुए ;
हो भाल नेत्र विशाल हर ज्यों छोड़ते शोभित हुए॥

५३—वह शर इधर गांडीव गुण से भिन्न जैसे ही हुआ ;
धड़ से जयद्रथ का उधर सिर छिन्न वैसे ही हुआ।
रक्ताक्त वह सिर व्योम में उड़ता हुआ कुछ दूर सा ;
दीखा अरुण तम उस समय के अस्त होते सूरसा॥

५४—अर्जुन विशिष तो लौट आया पर न रिपु का सिर फिरा ;
अपने पिता की गोद में ही वह अचानक जा गिरा।

रण से अलग उसका पिता तप कर रहा था रत हुआ ;
भगवान की इच्छा तनय के साथ वह भी हत हुआ ॥
५५—श्री कृष्ण, अर्जुन, भीम सात्यकि शंख-रव करने लगे ;
हर्षित हुए सब के बदन मन मोद से भरने लगे ;
प्रत्यक्ष कौरव पक्ष की तब नासिका सी कट गई ;
मानों विकल कुरुराज की शोकार्त छाती फट गई ॥

गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'

जन्म श्रावण शुक्ल १३ संवत १९४० वि० 'जन्म-स्थान हड़हा' जिला उन्नाव। 'सनेही' जी खड़ी बोली की आदिकालीन कविता और उसकी भाषा के आदि निर्माताओं में से हैं। उनका कवि उस काल में जन्म लेता है, जब व्रजभाषा का प्रभुत्व ह्रास की ओर उन्मुख होने के लगता है। उस समय जनसाधारण के अनुरूप. खड़ी बोली को, काव्य-क्षेत्र में प्रविष्ट कराने और अपने इस प्रयत्न में सफल होने वाले कवियों में 'सनेही' जी अग्रणी थे। वे स्वयं तो कविता खड़ी बोली में लिखते ही थे; साथ ही अपने सम्पर्क में आने वाले नवयुवक कवियों को खड़ी बोली में ही कविता लिखने को प्रेरणा भी देते थे। कवि-सम्मेलनों के द्वारा खड़ी बोली के कवियों को जितना प्रोत्साहन 'सनेही' जी से मिला है, सच पूछिये तो उतना उन्हें अन्य किसी कवि से नहीं मिला। हिन्दी कवियों में उस समय समस्या पूर्तिकारों का जो एक वर्ग था, सनेही जी उसके सर्वमान्य नेता रहे हैं। उस वर्ग के कई कवि आज हिन्दी में अपना-यशः सौरभ फैला रहे हैं। इसी प्रकार सनेही जी कवि ही नहीं, कवि-निर्माता भी हैं। अब तक वे विविध प्रान्तों में, साहित्य-समारोहों के अवसर पर शताधिक कवि-सम्मेलनों के सभापति हो चुके हैं।

सनेही जी ने लिखा बहुत है। पर पुस्तक रूप में उनकी प्रतिनिधि रचनाएँ बहुत कम मिलती हैं। प्रदर्शन और प्रचार-वृत्ति से स्वाभाविक विरक्ति रखने के कारण उन्हें उतना सम्मान भी नहीं मिला, जितना प्राप्त करने के वे एकान्त अधिकारी हैं। कवि की जब कोई कृति सामने नहीं होती, तो आज के प्रत्यक्षवादी युग में उसकी वाणी का आलोक जन-गण के अध्ययनशील वर्ग में पहुँच नहीं पाता। इसका परिणाम यह होता है कि एक ओर साहित्य की भूखी आत्मा निराहार रहती है, दूसरी

और कवि अपनी वाणी का उपयुक्त प्रसार न देखकर उन अवसरों और संभावनाओं को भी खो देता है, जो कवि की चिन्ता धाराओं को ऊँचा उठाकर उसे साहित्यिक जनता के लिए प्राणदायिनी बना देती हैं। यद्यपि इस प्रकार अपने काव्य-संग्रहों को समयानुसार प्रकाशित न कराकर 'सनेही' जी ने हिन्दी-साहित्य को भी उसके लाभ से वंचित रक्खा है। मेरा विश्वास है कि स्वयं कवि को इससे कम अपार्थिव हानि नहीं हुई।

सनेही जी के कवि के दो रूप हैं। एक में वे अपने नामानुरूप प्रकृति के द्रष्टा, मानवी वृत्तियों के सूक्ष्म विवेचक और सौन्दर्यानुभूति के गायक हैं। दूसरे में "त्रिशूल" रूप में राष्ट्रीय विचारधाराओं के समर्थक, पोषक और प्रचारक। उनके इस दूसरे रूप की अनेक कविताओं में वीर भावनाओं का समुचित परिपाक हुआ है। और जिस समय वे लिखी गई थीं, उस समय तो उस कोटि की रचनाओं का हिन्दी में सर्वथा अभाव था।

सनेही जी की प्रारम्भिक पुस्तकों के नाम हैं—प्रेमपचीसी, कुसुमाञ्जलि कृषक-क्रन्दन, त्रिशूल-तरंग।

भयंकर-युद्ध

समरानल घर प्रलय रूप-सा धधक रहा है,
रण में जाते हुए कालिका झिझक रही है।
भूत-प्रेत भयभीत, योगिनी सटक गई है,
हर-माला बढ़ अतल वितल तक लटक गई है।
घन-गर्जन कर धाँय-धाँय गोले चलते हैं,
धुआँधार है ग्राम, नगर, जंगल जलते हैं।
होता उल्कापात कि भीषण बम गिरते हैं,
डर के मारे भगे चील-कौवे फिरते हैं।
नज़र आ रही नहीं अन्य चिड़िया भी कोई,
विषमय गैसें सूँघ प्रकृति मानो है सोई।

कालरात्रि का दृश्य नज़र आता है दिन में;
ऐसा भय-प्रद घोर तिमिर छाता है दिन में।
सैनिक सहमें नहीं तनिक भी विपद् कड़ी में,
पल-पल पर है काल, मृत्यु है घड़ी-घड़ी में।
सम्मुख बढ़ते हुए शत्रु जब आ जाते हैं,
बढ़कर यह भी परम पराक्रम दिखलाते हैं।
सन-सन करती हुई गोलियाँ 'गन' से आतीं,
मानो कहती हुई विज़न हैं ज़न से आतीं।
हाथ किसी का उड़ा, किसी का सर जाता है;
शोणित से मैदान लबालब भर जाता है।
हुई अगर मुठभेड़ चला संगीन खचाखच;
हुई मेद से पूर्ण मेदिनी नाम हुआ सच!
दस्ती-बम ने कहीं किसी को झुलस दिया है;
'कुकड़ी' ही ने कहीं ग़ज़ब का कार किया है।
कोई चित है पड़ा कहीं कोई है औंधा;
चौंधाती है आँख देख कर असि का कौंधा।
घमासान रण मचा वीर ऐसे अड़ते हैं,
आगे पड़ते था कि स्वर्ग में पद पड़ते हैं।
धन्य-धन्य वे वीर मातृ-भू के हित मरते;
निज-बल-भर भर पूर शूर की करणी करते।
अमरपुरी में अमर बने बस वहीं विचरते;
कायर सुनकर नाममात्र ही मन में डरते।
विषम समर का ध्यान भूत सा उन पर चढ़ता,
भाँति-भाँति की नई-नई ख़बरें है गढ़ता।
पर पौरुष कुछ नहीं धुकधुकी धक-धक होती,
इनसे करना वाद मुफ़्त की झक-झक होती।

माखनलाल चतुर्वेदी

जन्म संवत् विक्रमी १९४५, निवास स्थान खँडवा

माखनलाल चतुर्वेदी हिन्दी में काव्य की उस धारा का प्रमुख प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसमें राष्ट्रीय चेतना और जन-जन की वाणी का प्रवाह है। नवीन और दिनकर यह दो नाम उस धारा को गतिशील रखने में अग्रणी हैं। 'भारतीय आत्मा!' इस संज्ञा से आपकी कविता का एक तीव्र बोध होता है। राष्ट्र और जनता के आकुल, त्रस्त, दुखी प्राणों का समस्त चीत्कार, समस्त हाहाकार जैसे उनकी कविता में सदैव के लिये मुखरित होता रहता है। देश की आत्मा में उनका कवि प्रतिष्ठित है ।

उल्लास, आनन्द, निराशा और वीरता के ऐश्वर्य को राष्ट्र-भक्ति के उच्चतम सोपान पर प्रतिष्ठित कर आपने अपने काव्य में एक उत्कृष्ट कला का परिचय दिया है। जीवन में सरसता, शक्ति और यौवन लाने वाली माधुर्य आपकी कविता की पहिली शर्त है। मानव जीवन में रस का झरना फूट पड़े, ऐसी अपील, ऐसा संवेदन आपके काव्य में है। भाषा का बाँकपन, कवि के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की अनुभूति को लेकर ऐसे विश्व की सृष्टि कर देता है, जहाँ जीवन और जगत के बीच केवल चिरन्तन प्रेम ही है। कोकिल की प्रभातकालीन मीठी आवाज़ की बेहोशी लाने वाली चेतना जैसे कवि के प्राणों में हमेशा के लिए भर गयी है।

आपकी कविताओं का संकलन अभी हाल ही में 'हिमकिरीटिनी' नाम से प्रकाशित हुआ है।

वीर-पूजा

पा प्यारा अमरत्व, अमर आनन्द अभय पा,
विश्व करे अभिमान, वीर्य बल-पूर्ण, विजय गा।
जागृति जीवन ज्योति जोर से हों, तू दमके,
परम कार्य का रूप बने, वसुधा में चमके;
तू भुजा उठा दे हे जयी! जग चक्कर खाने लगे;
दुखियों के हिय शीतल बनें, जगतीतल हुलसाने लगे।
तेरे कन्धों चढ़े, जगत-जीवन की आशा,
तेरे बल पर बढ़े जाति, जागृति, अभिलाषा।
कसी रहे कटि कर्म—महा-वारिधि तरने को,
गरुड़ छोड़, पद चले, दुखी का दुख हरने को।
वह प्रेम-सूत्र में गुँथ रहा, दुखियों के मन का हार है;
वसुधा का बल संचार ही, श्री चरणों का उपहार है।
आ, आहा! यह दिव्य, देश-दर्शन दिखला, आ!
उलट-पलट के विकट, कर्म-कौशल सिखला आ!
'जय हो'—यह हुँकार, हृदय दहलाने वाली।
काँप उठी उस वन-प्रदेश की डाली-डाली!
ले, श्री मनुष्यता मत्त ही, विजय ध्वनि आराधे खड़ी;
श्री प्रकृति-प्रेम पगली बनी, वीणा के स्वर साधे खड़ी।
आहा! पन्द्रह कोटि हार ले, आये आली,
जगमग-जगमग हुईं कोटि पन्द्रह ये थाली,
अर्घ्य-दान के लिये हिमालय आगे आये,
रत्नाकर ये खड़े, धुलें श्री चरण सुहाये।
यह हरा-हरा भावों भरा, कर्मस्थल स्वीकार हो;
नवजीवन का संचार हो, क्या हो! कृति हो, हुँकार हो।

सिपाहिनी

चूड़ियाँ बहुत हुईं कलाइयों पर प्यारे, भुज-दंड सजा दो,
तीर कमानों से सिंगार दो, ज़रा जिरह बखतर पहना दो।
जी में सोये से सुहाग! जग उठो, पुतलियों पर आ जाओ,
बिना तीसरे नेत्र, दृष्टि में अजी, प्रलय ज्वाला सुलगा दो।
कैसे सैनानी हो!—जो मैं नहीं सैनिका होने पाती!
कैसे बल हो! अबलापन को जो मैं नहीं डुबोने पाती!
आदि पुरुष ने, अपनी माया के हाथों में कौशल सौंपा,
जग के उथल-पुथल कर देने के मस्ताने बल को सौंपा।
मेरे प्रणय और प्राणों के ओ सिन्दूर रक्तिमा लाली!
तुम कैसे प्रलयंकर शंकर! जो मैं रहूँ न दुर्गा, काली!
अर्ध रात्रि के सूनेपन में, प्यारे बंसी बना-बजा लो,
मेरी धुन में अपनी साँसें गूँथ-गूँथ स्वर-हार बना लो।
अँगुलयों से गिन-गिन, मोहन, मेरे दोषों को दुहरा लो,
ओठों से ओठों पर, अपना प्रणय मन्त्र लिख स्वर गहरा लो।
किन्तु सुनहली सूरज की किरनों पर, क्या यह स्वाद लिखोगे!
सखे! खनकती करवालों पर चुड़ियों के सम्वाद लिखोगे!
माना 'जौहर' भी होता था, मरने के त्यौहारों वाला,
और पतन के अगम सिन्धु से, तरने के त्यौहारों वाला।
किन्तु आज तो इस मुरली को रण-भेरी का, डंका कर लो,
या कर लो पानी वाली तलवार, उदार! मार लो-मर लो!
"जौहर" से बढ़कर, घोड़े पर चढ़कर, जौहर दिखलाने दो,
चुड़ियाँ हों सुहागिनी, यौवन! यौवन अपनी पर आने दो।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

जन्म, माघशुक्ल ११ संवत् १९५५ वि०। जन्मस्थान महिषादल स्टेट, मेदिनीपुर (बंगाल)। निवासी गढ़ाकोला, उन्नाव (युक्तप्रांत)

निराला हिन्दी के उन कवियों में अग्रणी हैं, जिन्होंने खड़ी बोली में कविताएँ लिखकर छायावाद, रहस्यवाद और प्रगतिवाद विषयक भावधाराओं को जन्म दिया, उनमें प्रवाह, सौन्दर्य, चेतना और शक्ति का समावेश किया और आज जो संसार के समक्ष अपनी असाधारण प्रतिभा, नवीन शैली और मौलिकता के बल पर हिन्दी काव्य को उत्तरोत्तर समुन्नत बनाते आ रहे हैं।

निराला जी हिन्दी के पिछले खेवे के कवियों के साथ मेल नहीं खाते। उनके काव्य-सम्बन्धी आदर्श भी काव्य-शास्त्र से भिन्न हैं। वे पुराने छन्दों को ग्रहण नहीं करते, उनकी भाषा भी तथाकथित सुकुमारता की सीमाओं में विजड़ित नहीं रहती और उपमाओं में भी वे सर्वथा मौलिक हैं। ध्वनि, गाम्भीर्य और अर्थ-व्यंग्य के अतिरिक्त उनकी सबसे अधिक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि भावग्रहण की पृष्ठ-भूमि दार्शनिक होते हुए भी उसमें एक युग चेतना का स्पष्ट संकेत है।

निराला जी ने मनुष्य की सुकुमार वृत्तियों का अत्यन्त निकटता से अध्ययन किया है। पुरुष और नारी के भावात्मक आत्मदान को उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति में सजीव रूप दिया है। त्याग और बलिदान के निगूढ़ उद्गारों को उन्होंने शब्दों में बाँधा है और उनमें वीर भावों की सृष्टि करके समाज की निद्रा भंग की है; त्यागी, संन्यासी, वीर, भिखारी और मज़दूर ही नहीं अपाहिज, अनाश्रित, अनादृत और संसार की दृष्टि में अत्यन्त दीन-हीन, क्षुद्र और सर्वथा असमर्थ चरित्रों को लेकर उन्होंने

हिन्दी कविता की श्रीवृद्धि की है। उनकी समवेदनाएँ एकाङ्गी नहीं हैं, एक व्यापकता और विविधता उनमें फैली हुई है। पीड़ित, दुर्दशाग्रस्त, उपेक्षित और हीन मानवता की ओर कवि निराला की दृष्टि सब से पहले गई है और समाज और राष्ट्र के जागरण को अपने गीतों में भरकर, तुकान्त के बन्धन त्याग कर, वर्संलिश्र को अपनाकर नयी पीढ़ी हैं कवियों में आज वह एक युगचेता के रूप में प्रतिष्ठित है।

निराला जी निबन्धकार, उपन्यासकार, कहानी लेखक, और समीक्षाकार भी हैं। आपके काव्य ग्रन्थों में 'परिमल, तुलसीदास' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं और यह बात नहीं कि इन क्षेत्रों में कवि अपनी उच्चता से कहीं डिगा हो। किन्तु आज कवि निराला काव्य में अपने ओजस्वी भावों के कारण सबसे अधिक लोकप्रिय है। और जहाँ तक कविता-पाठ में प्रभाव और भावों के स्पष्टीकरण का सम्बन्ध है, उसकी अभिनयात्मक अभिव्यक्ति कवि ही नहीं, एक उच्चकोटि के गायक के नाते भी सर्वथा अभिनन्दनीय है।

महाराज शिवाजी का पत्र

वीर !——सर्दारों के सर्दार !——
महाराज !
बहु-जाति क्यारियों के पुष्प-पत्र-दल-भरे
आन-बान-शान वाले भारत-उद्यान के
नायक हो, रक्षक हो
वासन्ती सुरभि को हृदय से हरकर
दिगन्त भरनेवाला पवन ज्यों।
वंशज हो——चेतन अमल अंश,
हृदयाधिकारी रविकुल-मणि रघुनाथ के।

किन्तु हाय ! वीर राजपूतों की
गौरव-प्रलम्ब-ग्रीवा
अवनत हो रही है आज तुमसे
महाराज,
मोगल दल-विगलित-बल
हो रहे हैं राजपूत,
बाबर के वंश की
देखो आज राजलक्ष्मी
प्रखर से प्रखरतर-प्रखर-तमदीखती
दुपहर की धूपसी,
दुर्मद ज्यों सिन्धु नद
और तुम उसके साथ

वर्षा की बाढ़ ज्यों
भरते हो प्रबल वेगप्लावन का,
बहता है देश निज—
धन-जन-कुटुम्ब-भाई—
अपने सहोदर-मित्र—
निस्सहाय, त्रस्त भी "उपाय शून्य"॥
वीरता की गोद पर
मोद भरने वाले शूर तुम,
मेधा के महान्,
राजनीति में हो अद्वितीयजय सिंह
सेवाहो स्वीकृति—
हैं नमस्कार साथ ही
आसीस भी है बार-बार।
कारण संसार के विश्वरूप,
तुम पर प्रसन्न हों,
हृदय की आँखें दें,
देखो तुम न्याय-मार्ग।
सुना है मैंने, तुम,
सेना से पार दक्षिण-पथ को,
आये हो मुझ पर चढ़ाई कर,
जयश्री, जयसिंह।
मोगल—सिंहासन के—
औरङ्ग के पैरों के
नीचे तुम रक्खोगे,
काट देना चाहते हो दक्षिण के प्राण—
मोगलों को तुम जीवदान,
काढ़ हिन्दुओं का हृदय,
सदय ऐसे! कीर्ति से
जाओगे अपनी पताकाले।
हायरी यशोलिप्सा!
अन्धे की दिवस तू—
अन्धकार—रात्रि सी।
लपट में झपट
प्यासा मरने वाले
मृग भी मरीचिका है।
चेतो वीर हो अधीर जिसके लिये,
अमृत नहीं, गरल है
अति कटु हलाहल है,
कीर्ति-शोणिभा में यह,
कालिमा कलङ्क की
दीखती है छिपी हुई—
काला कर देगी मुख,
देश होगा विगत-सुख, विमुख भी
धर्म को सहेगा नहीं
इतना यह अत्याचार,
करो कुछ विचार;
तुम देखो वस्त्रों की ओर,
शराबोर किसके खून से ये हुए!
लालिमा क्या है कहीं कुछ!
भ्रम है वह,
सत्य कालिमा ही है।
दोनों लोक कहेंगे,
होता तू जानदार,

हिन्दुओं पर हर्गिज़ तू
कर न सकता प्रहार।
अगर निज नाम से,
बाहुबल से, चढ़कर
काम आते वहीं दक्षिण में
विजय के लिये वीर
पत्र से प्रभात के
इन नयन पलकों को
राह पर तुम्हारी मैं
सुख से बिछा देता—
सीस भी झुका देता सेवा में,
साज भी होता वीर।
रक्षक शरीर की, हम रकाब,
साथ लेता सेना निज,
सागराम्बरा भूमि
क्षत्रियों की जीत कर,
विजय सिंहासन—श्री
सो पता ला तुम्हें मैं
स्मृति-सी निज प्रेम की।
किन्तु तुम आये नहीं अपने लिये,
आये हो, औरङ्गशाह को
देने मृदु अङ्ग निज काट कर।
धोखा दिया है यह
उसने तुम्हें क्या ही!—
दगाबाज़ लाज जो उतारता है
मरजाद वालों की,
खूब बहकाया तुम्हें!

सोचता हूँ अपना कर्त्तव्य अब,—
देश का उद्देश पर, क्या करूँ,
निश्चय कुछ होता नहीं—
द्विधा में पड़े हैं प्राण।
अगर मैं मिलता हूँ
"डर कर मिला है"
यह शत्रु मेरे कहेंगे।—
नहीं यह मर्दानगी।
समय की बाट कभी
जोहते नहीं हैं पुरुष—
पुरुषकार उपहार में है संयोग से
जिन्हें मिला—
सिंह भी क्या स्वांग कभी
करता है स्यार का!
क्या कहूँ मैं,
लूँगा तलवार,
तो धार पर बहेगा खून
दोनों ओर हिन्दुओं का अपना ही।
उठता नहीं है हाथ
मेरा कभी नरनाथ
देख हिन्दुओं को ही
रण में-विपक्ष में।
हाय री करालता!
पेट के लिये ही
छलते हैं भाई-भाई
कोई तुम ऐसा सा कीर्तिकामी।
वीरवर! समर में

धर्म-घातकों से ही खेलती है रण-
क्रीड़ा
मेरी तलवार, निकल म्यान से।
आये होते कहीं
तुर्क इस समर में,
तो क्या, शेरभट्टों के
वे शिकार आये होते।
किन्तु हाय!
न्याय-धर्म-वंचित वह
पापी औरङ्गज़ेब—
राक्षस निरा जो नर-रूप का,
समझ लिया खूब जब
दाल है गली नहीं
अफ़ज़ल खाँ के द्वारा,
कुछ न बिगाड़ सका
शाइस्तः खान आकर,
सीस पर तुम्हारे तब
सेहरा समर का बाँध
भेजा है फतहयाब होने को दक्षिण में।
शक्ति उसे है नहीं
चोटें सहने की यहाँ
वीर शेर मर्दों की।
सोचो तुम,
उठती जब नग्न तलवार है स्वतन्त्रता
की,
कितने ही भावों से
याद दिला घोर दुःख दारुण पर-
तन्त्रता का,
फूँकती स्वतन्त्रता निज मन्त्र से
जब व्याकुल कान,
कौन वह सुमेरु
रेणु-रेणु जो न हो जाय?
इसीलिये दुर्जय है हमारी शक्ति;
और भी—
तुम्हें यहाँ भेजा जो,
कारण क्या रण का?
एक यही निस्सन्देह,
हिन्दुओं में बलवान्
एक भी न रह जाय।
लुप्त हो हमारी शक्ति
तुर्कों के विजय की।
आपस में लड़कर
हो घायल मरेंगे सिंह,
जंगल में गीदड़ ही
गीदड़ रह जायँगे—
भोगेंगे राज्य-सुख।
गुप्त भेद एकमात्र
है यही औरंग का,
समझो तुम,
बुद्धि में इतना भी नहीं पैठता?
जादू के मारे हाय
हारे तुम बुद्धि भी?

समझो कि कैसा बहकाया है !
मिला है तुम्हें
गन्ध-व्याकुल-समीर-मन्द-स्पर्श सरस,
साथ मठ भूमि में
सेना के सङ्ग तुम
झुलस भी चुके हो खूब
लू के तप्त झोंकों में।
सुःख और दुःख के
कितने ही चित्र तुम देख चुके।
फूलों की सेज पर सोए हो,
काँटों की राह भी
आह भर पार की।
काफ़ी ज्ञान, वयो वृद्ध !
पाया है तुमने संसार का।
सोचो ज़रा,
क्या तुम्हें उचित है कभी
लोहा लो अपने ही भाइयों से !
अपने ही खून की
अञ्जलि दो पूर्वजों को,
धर्म जाति के ही लिये
दिए हों जिन्होंने प्राण—
कैसा यह ज्ञान है।
श्रीमान् कहते हैं तुम्हें लोग,
जयसिंह सिंह हो तुम,
खेलो शिकार खूब हिरनों का,
याद रहे—
शेर कभी मारता नहीं है शेर,

केसरी
अन्य वन्य पशुओं का ही शिकार करता है।
सिंहों के साथ ही चाहते हो गृह-कलह !—

जयसिंह
अगर हो शानदार,
जानदार है यदि अश्व वेगवान्
बाहुओं में बहता है
क्षत्रियों का खून यदि,
हृदय में जागती है वीर यदि
माता क्षत्राणी की दिव्य मूर्ति,
स्फूर्ति यदि भङ्ग-अङ्गको है उकसार ही,
आ रही है याद यदि अपनी मरजाद की,
चाहते हो यदि कुछ प्रतिकार,
तुम रहते तलवार के म्यान में,
आओ वीर, स्वागत है,
सादर बुलाता हूँ।
हैं जो बहादुर समर के
वे मर के भी
माता को बचायेंगे।
शत्रुओं के खून से
धो सके यदि एक भी तुम माँ का दाग़,
कितना अनुराग देशवासियों का पाओगे !—

निर्जर हो जाओगे—
अमर कहलाओगे !
क्या फल है,
बाहुबल से छल से, या कौशल से
करके अधिकार किसी
भीरुपीनोरू नतनयना नवयौवना पर,
सौंपो यदि भय से उसे
दूसरे कामातुर किसी
लोलुप प्रतिद्वन्द्वी को !
देख क्या सकोगे तुम
सामने तुम्हारे ही
अर्जित तुम्हारी उस
प्यारी सम्पत्ति पर,
आ प्रकटे दूसरा ही
भोग संयोग निज, आँख दिखा,
और तुम वीर हो !
रहते तू वीर में वीर, अहो,
छोड़ कब क्षत्रियों ने अपना भाग !
रहते प्राण कटि में कृपाण के !
सुना नहीं तुमने क्या वीरों का
इतिहास !
पास ही तो देखो
क्या कहता चित्तौरगढ़ !
मढ़ गये ऐसे तुम तुर्कों में !
करते अभिमान भी किन पर !
विदेशियों विधर्मियों पर !
काफ़िर तो कहते न होंगे कभी तुम्हें वे !
विजित भी न होगे तुम औ गुलाम
भी नहीं !
कैसा परिणाम यह सेवा का !—
लोभ भी न होगा तुम्हें मेवा का
महाराज !
बादल घिर आये तो विपत्तियों के
क्षत्रियों पर,
रहती सदा ही जो आपदा,
क्या कभी कोशिश भी की कोई
तुमने बचाने की !
जानते हो,
वीर छत्रसाल पर
होगा मोगलों का
बहुत शीघ्र ही वज्र-प्रहार।
दूसरे भी मलते हैं हाँथ,
हैं अनाथ हिन्दू,
असहनीय हो रहा है अत्याचार।
सच है मोगलों से
सम्बन्ध हुआ है तुम्हारा
किन्तु क्या अन्ध भी तुम हो गये !
राक्षस वह रखते हो
नीति का भरोसा तुम,
तृष्णा, स्वार्थसाधना है जिसकी,
निज भाई के ख़ून से,
प्राणों के पिता के
जो शक्तिमान् है हुआ !
जानते नहीं हो तुम !

आड़ राजभक्ति की
लेना है इष्ट यदि,
सोचो तुम,
शाहजहाँ से तुमने कैसा बर्ताव किया।
दी है विधाता ने
बुद्धि यदि तुम्हें कुछ—
वंश का बचा हुआ
यदि कुछ पुरुषत्व है—
तत्व है,
तप तलवार
सन्ताप से निज जन्मभू के
दुःखियों के आँसुओं से
उस पर तुम पानी हो।
अवसर नहीं है यह
लड़ने का आपस में
खाली मैदान पड़ा हिन्दुओं का महाराज,
बलिदान चाहती है जन्मभूमि,
खेलोगे जान ले हथेली पर?
धन-जन-दे बालय
देव-देश-द्विज-घटा-बन्धु
इन्धन हैं हो रहे तृष्णा की भट्टी में—
हद है अब हो चुकी।
और भी कुछ दिनों तक
जारी रहा ऐसा यदि अत्याचार, महाराज,
निश्चय है; हिन्दुओं की
कीर्ति उठ जायगी—
चिह्न भी न हिन्दू-सभ्यता का रह जायगा।
कितना आश्चर्य है!
मुट्ठी भर मुसलमान
पले आतङ्क से हैं
भारत के अङ्ग पर।
अपनी प्रभुता में
हैं मानते इस देश को,
विशृङ्खल तुम-सा यह हो रहा।
देखते नहीं हो क्या,
कैसी चाल चलता है
रण में औरङ्गज़ेब?
बहुरूपी, रङ्ग बदला ही किया।
साँकलें हमारी हैं
बकड़ रहा है वह जिनसे हिन्दुओं के पैर।
हिन्दुओं के काटता है सीस
हिन्दुओं की तलवार से।
याद रहे
बरबाद जाता है हिन्दू धर्म, हिन्दुस्तान।
मरजाद चाहती है आत्मत्याग—
शक्ति चाहती है अपनाव, प्रेम
छिन्न हो रहे हैं जो

खण्डशः क्षीण क्षीण तर हुए,—
आप ही हैं अपनी
सीमा के राजराजेश्वर
भाइयों के शेर और क्रीतदास तुर्कों के,
उद्धत विवेकशून्य,
चाहिये उन्हें कि स्वयं अपना वे पहिचानें
मिल जाँय जल में ज्यों जल राशि,
देखो फिर
तुर्क-शक्ति कितनी देर टिकती है
सङ्गठित हो जाओ—
आओ, बाहुओं में भर
भूले हुए भाइयों को,
अपनाओ अपना आदर्श तुम।
चाहिये हमें कि
तदबीर औ तलवार पर
पानी चढ़ायें ख़ूब,
क्षत्रियों की क्षिप्त शक्ति
करले एकत्र फिर,
बादल के दल मिलकर
घेरते धरा को ज्यों,
प्लावित करते हैं
निज जीवन से जीवों को।
ईंट का जवाब हमें
पत्थर से देना है,
तुर्कों को तुर्की में
घूँसे से थप्पड़ का।
यदि तुम मिल जाओ महाराज जसवन्तसिंह से,
हृदय से कलुष धो डालो यदि,
एकता के सूत्र में
यदि तुम गुँथो फिर महाराजा राजसिंह से,
निश्चय है,
हिन्दुओं की लुप्त कीर्ति
फिर से जग जायगी,
आएगी महाराज
भारत की गई ज्योति,
प्राची के भाल पर
स्वर्ण सूर्योदय होगा
तिमिर-आवरण
फट जायगा मिहिर से,
भीति-उत्पात सब रात के दूर होंगे।
घेर लो सब कोई,
शेर कुछ है नहीं वह,
मुट्ठी भर उसके सहायक हैं
दबकर पिस जायँगे।
शत्रु को मौक़ा न हो
अरे, कितना समझाऊँ मैं!
तुमने हीरेणु को सुमेरू बना रक्खा है।

महाराज।
नीच कामनाओं को
सींचने के ही लिये
पल्लवित विष वल्लरी को करने के हेतु,
मोग़लों की दासता के
पाश मालाएँ हैं
फूलों की आज तुम्हें
छोड़ो यह हीनता,
साँप अस्तीन का,
फेंको दूर
मिलो भाइयों से,
व्याधि भारत की छुट जाय।
बँधे हो बहा होना
मुक्त तरङ्गों में प्राण,
मान, धन, अपनापन;
कब तक तुम तट के निकट
खड़े हुए चुपचाप,
प्रखर उत्ताप के फूल-से रहोगे म्लान
मृतक, निष्प्राणों जड़।
टूट पड़ो—बह जाओ—
दूर तक फैलाओ अपनी श्री, अपना रङ्ग
अपना रूप, अपना राग,
व्यक्तिगत भेद ने
छीन ली हमारी शक्ति।

कर्षण विकर्षण भाव
जारी रहेगा यदि
इसी तरह आपस में,
नीचों के साथ यदि
उच्च जातियों की घृणा
द्वन्द्व, कलह, वैमनस्य,
क्षुद्र ऊर्मियों की तरह
टक्करें लेते रहो तो
निश्चय है,
वेग उन तरंगों का
और घट जायगा—
क्षुद्र से वे क्षुद्रतर होकर मिट जायँगी,
चञ्चलता शान्त होगी,
स्वप्न-सा विलीन हो जायगा अस्तित्व सब,
दूसरी ही कोई तरङ्ग फिर फैलेगी।
चाहते हो क्या तुम
सनातन-धर्म धारा शुद्ध
भारत से बह जाय चिरकाल के लिए ?
महाराज।
जितनी विरोधी शक्तियों से
हम लड़ रहे हैं आपस में,
सच मानों खर्च है यह
शक्तियों का व्यर्थ है।
मिथ्या नहीं

रहती है जीवों में विरोधी शक्ति,
पिता से पुत्र का,
पति का सहधर्मिणी से
जारी सदा ही है कर्षण-विकर्षण-भाव
और यही जीवन है—सत्ता है
किन्तु तो भी
कर्षक बलवान् है
जब तक मिले हैं वे आपस में—
जब तक सम्बन्ध का ज्ञान है—
जब तक वे हँसते हैं
रोते हैं एक दूसरे के लिये।
एक-एक कर्षण में
बँधा हुआ चलता है
एक-एक छोटा परिवार
और उतनी ही सीमा में
बँधा है अगाध प्रेम—
धर्म-भाषा-वेश का,
और है विकर्षणमय
सारा संसार हिन्दुओं के लिये!
घेरना है अपनी ही छाया से!
ठगते वे अपने ही भाइयों को।
लूटकर उन्हें ही वे भरते हैं अपना घर।
सुख की छाया में फिर रहते निश्चिन्त हो
स्वप्न में भिखारी ज्यों।
मृत्यु का क्या और कोई होगा रूप!
सोचो कि कितनी नीचता है आज
हिन्दुओं में फैली हुई।
और यदि एकीभूत-शक्तियों से एक ही
बन जाय परिवार,
फैले समवेदना,
एक ओर हिन्दू एक ओर मुसलमान हों,
व्यक्ति का खिंचाव यदि जातिगत हो जाय,
देखो परिणाम फिर,
स्थिर न रहेंगे पैर यवनों के—
पस्त हौसला होगा—
ध्वस्त होगा साम्राज्य।
जितने विचार आज
मारते तरंगे हैं
साम्राज्यवादियों की भोगलालसाओं में,
नष्ट होंगे चिरकाल के लिये।
आएगी भाल पर
भारत की गई ज्योति
हिन्दुस्तान मुक्त होगा घोर अपमान से,
दासता के पाश कट जायँगे।
मिलो राजपूतों से,

घेरो तुम दिल्ली-गढ़
तब तक मैं दोनों सुलतानों को देख
लूँ ।
सेना घनघटा-सी,
मेरे बीर सरदार
घेरेंगे गोलकुण्डा, बीजापुर,
चमकेंगे खड्ग सब
विद्युद्-द्युति बार-बार,
ख़ून की पियेंगी धार
संगिनी सहेलियाँ भवानी की,
धन्य हूँगा, देव-द्विज-देश को
सौंप सर्वस्व निज ।

बालकृष्ण शर्मा "नवीन"

जन्म संवत् १९५४ वि० । जन्मस्थान शाजापुर, ग्वालियर राज्य ।

'नवीन' जी का कवि-जीवन एक रोमांसवादी गीतिकार से प्रारम्भ होता है। इसके बाद वे राष्ट्रीय जागरण के गायक एक क्रान्तिवादी कवि के रूप में विकसित होते हैं। हिन्दी कविता के पिछले तीस वर्ष का इतिहास उनके सामने से गुज़रा है। 'छायावाद, रहस्यवाद, यथार्थवाद और प्रगतिवाद की भावाधाराओं में भिन्नताएँ और विभेद पैदा होकर पनपे हैं और अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुरूप उनमें घात-प्रतिघात के साथ-साथ विकास और गति का वेग आया है। किन्तु जीवन युद्ध में घोर संघर्ष का यह द्रष्टा स्वप्नों की सृष्टि और उनकी व्यर्थताओं असफलताओं की खीझ पर एक दार्शनिक विजेता की भाँति यह कवि सदा सजग, उत्फुल्ल और अदम्य साहस और उत्साह से अनुप्राणित रहा है।

नवीन जी की भाषा में वही गति, वही उद्दाम वेग और प्रवाह है जो किसी जल-प्रपात में होता है। पुरातन परम्पराओं के आलोचक उनकी भाषा के सम्बन्ध में आरोप करते हैं कि कहीं-कहीं अपनी तरल पदावली के बीच वे ऐसे शब्दों का प्रयोग भी करते हैं, जो अपने सम्पर्क वाले निकटवर्ती शब्दों के साथ मेल नहीं खाते, वे अलग पड़ जाते और भाषा के स्वाभाविक मार्दव और उसकी लय में एक रोध बनकर खटकते से प्रतीत होते हैं। किन्तु उन्होंने कवि की उस स्वतन्त्र सत्ता की ओर दृष्टि नहीं डाली, जिसने अपनी भाव धाराओं में परम्पराओं और रूढ़ियों का उच्छेद किया है। उन्होंने यह नहीं सोचा कि जीवन की विषमताओं के प्रति ध्वंस के स्वप्नों का आह्वान करने वाला कवि तो ऐसा रूढ़िद्रोही होता ही है।

नवीन जी के कवि में भविष्य की नयी पीढ़ी के प्रति एक युग। किन्तु, चेता गायक का मांगलिक स्वर भी है, एक ऐसे समाज के नव-निर्माण की आशा, जो भाग्य पर आश्रित न रहकर कर्म-केवल कर्म पर विशेष आस्था रखेगा।

नवीन जी की कविताओं में वीर रस की मात्रा कम नहीं है। उनकी जितनी भी विद्रोहात्मक कविताएँ हैं, सब में समाज के वर्त्तमान संगठन के प्रति ध्वंसात्मक विरोध की तीव्रता अतीव ओजस्वी भाषा, शैली और भावना में प्रकट हुई।

आपकी कविताओं का एक संकलन 'कुंकुम' नाम से प्रकाशित हुआ है।

पराजय-गीत

(१)

आज खड्ग की धार कुण्ठिता
है, ख़ाली तूणीर हुआ,
विजय पताका झुकी हुई है,
लक्ष्यभ्रष्ट यह तीर हुआ,
बढ़ती हुई क़तार फौज की,
सहसा अस्त-व्यस्त हुई
त्रस्त हुई भावों की गरिमा,
महिमा सब सन्यस्त हुई
मुझे न छेड़ो, इतिहासों के
पन्नों, मैं गतधीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुण्ठिता
है ख़ाली तूणीर हुआ।

(२)

मैं हूँ विजित, जीत का प्यासा
विजित, भूल जाऊँ कैसे !
वह संघर्षण की घटिका है,
बसी हुई हिय में ऐसे,
जैसे माँ की गोदी में शिशु
का दुलार बस जाता है
जैसे अंगुलीय में मरकत
का नव नग कस जाता है;
'विजय विजय' रटते मम मनुआ
यह देखो कल कीर हुआ
फिर भी असि की धार कुण्ठिता,
है ख़ाली तूणीर हुआ।

(३)

गगन भेद कर वरदकरों ने
विजय प्रसाद दिया था जो,
जिसके बल पर किसी समय में
मैंने विजय किया था जो,
वह सब आज टिमटिमाती स्मृति—

दीप-शिखा बन आया है,
कालान्तर ने कृष्ण आवरण
में उसको लिपटाया है।
गौरव गलित हुआ, गुरुता का
निष्प्रभ क्षीण शरीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुण्ठिता,
है खाली तूणीर हुआ।

(४)

एक सहस्र वर्ष की माला
मैं हूँ उलटी फेर रहा,
उन गत युग के गुम्फित मनकों
को मैं फिर-फिर हेर रहा,
घूम गया जो चक्र उसी की
ओर देखता जाता हूँ
इधर उधर सब तरफ़ पराजय
की ही मुद्रा पाता हूँ,
आँखों का ज्वलन्त क्रोधानल
क्षीण दैन्य का नीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुण्ठिता,
है खाली तूणीर हुआ।

(५)

विजय सूर्य ढल चुका अँधेरा
लाया है रखने को लाज,
कहीं पराजित का मुख देखन
ले यह विजयी कुटिल समाज,
अंचल ? कहाँ फरा अंचल वह ?
माँ का प्यारा वस्त्र कहाँ ?
अर्धनग्न, रुग्णा, कपूत की
माँ का लज्जा अस्त्र कहाँ ?
कहाँ छिपाऊँ वह मुख अपना ?
खोकर विजय फ़कीर हुआ,
फिर भी असि की धार कुण्ठिता
है खाली तूणीर हुआ।

(६)

जहाँ विजय के पिपासार्त ले—
गए आँख की ओट कई,
जहाँ जूझकर मरे अनेकों,
जहाँ खा गए चोट कई,
वहीं आज संध्या को बैठा
हूँ मैं अपनी निधि छोड़े,
कई सियार, श्वान, गीदड़, ये,
लपक रहे दौड़े,—दौड़े,
विजित साँझ के झुटपुटे समय
ककश रव गंभीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुण्ठिता
है खाला तूणीर हुआ।

(७)

रग-रग में ठण्डा पानी है,
अरे उष्णता चली गई,
नस-नस में टीसें उठती हैं,
विजय दूर तक टली सही,
विजय नहीं, रण के प्राङ्गण की
धूल बटोरे लाया हूँ,
हिय के घावों में, वर्दी के

चिथड़ों में ले आया हूँ;
टूटे अस्त्र, धूल माथे पर,
हो! कैसा मैं वीर हुआ!
आज खड्ग की धार कुण्ठिता
है खाली तूणीर हुआ।

(८)

वर्दी फटी, हृदय घायल, मुख पर
कारिख, क्या वेश बना!
आँखें सकुच रहीं, कायरता
के पंकिल से देश सना,
अरे पराजित, ओ! रणचंडी
के कपूत, हट जा, हट जा,
अभी समय है, कह दे माँ मेदिनी
ज़रा फट जा फट जा।
हन्त! पराजय गीत आज क्या,
द्रुपत-सुता का चीर हुआ!
खिंचता ही आता है—जब से
यह खाली तूणीर हुआ!

———

सुभद्राकुमारी चौहान

जन्म श्रावण शुक्ल ५ संवत् १९६१ विक्रमी। निवास-स्थान जबलपुर

प्रायः कहा जाता है कि कवि तो जन्मजात होता है। कोई उसे कवि बनाने नहीं बैठता। ज्यों-ज्यों वह संसार को देखता और उसका अनुभव प्राप्त करता जाता है, त्यों-त्यों उसकी वाणी खुलती, निखरती और परिष्कृत होती हुई कविता का अक्षय आसन प्राप्त कर लेती है। सुभद्रा जी इसी श्रेणी की कवयित्री हैं। उनकी कविताओं में भारत की साधारण जनता का हृदय बोलता है। उनकी भाषा को हम कविता के क्षेत्र में जनता की भाषा मानते हैं। वह इतनी सरल है कि उसमें पिरोये भाव हृदय को सहज ही आकृष्ट कर लेते हैं। उनकी कविता में निर्मल प्रेम का झरना बहता है। त्याग, बलिदान और समर्पण के उत्कृष्ट भावों के साथ-साथ उनकी कविता में भारत का अभिमान, गौरव और उसकी चेतना का स्वर मुखरित हुआ है। उनकी अनेक रचनाओं में देश पर मर मिटने के ऐसे ओजस्वी और मर्मस्पर्शी भाव हैं जिन्होंने देश के सहस्रों युवकों को राष्ट्रीय जीवन में सर्वस्व समर्पण करने की ओर प्रेरित किया है। आह्लाद, हर्ष, वियोग, विच्छेद, उपालम्भ आदि जीवन की स्थायी वृत्तियों को भी उन्होंने वाणी दी है। उनकी 'झाँसी की रानी' कविता में वीर भावनाओं का सुन्दर परिपाक हुआ है। देश के अनेक क्षेत्रों में यह कविता बड़े उत्साह से गायी जाती है। और पढ़ी-लिखी महिलाओं में तो इसने जागरण का शंखनाद-सा किया है।

सुभद्रा जी ने कहानियाँ भी लिखी हैं। देश की स्वतन्त्रता की लड़ाई में कारागार प्रवास का कष्ट भी उन्होंने स्वीकार किया है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से पद्य और गद्य दोनों ही क्षेत्रों में 'मुकुल' तथा "बिखरे मोती" पर उनको क्रमशः दो बार ५००) का सेकसरिया पारितोषिक मिल चुका है।

झाँसी की रानी

(१)

सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी,
बूढ़े भारत में भी आई फिर से नई जवानी थी,
गुमी हुई आज़ादी की क़ीमत सबने पहचानी थी,
दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी,
चमक उठी सन् सत्तावन में वह तलवार पुरानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

(२)

कानपूर के नाना के मुँह बोली बहन 'छबीली' थी।
लक्ष्मीबाई नाम, पिता की वह सन्तान अकेली थी।
नाना के संग पढ़ती थी वह नाना के संग खेली थी।
बरछी, ढाल, कृपाण, कटारी उसकी यही सहेली थी।
वीर शिवा जी की गाथाएँ उसको याद ज़बानी थीं।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

(३)

लक्ष्मी थी या दुर्गा थी वह स्वयं वीरता की अवतार,
देख मराठे पुलकित होते उसके तलवारों के वार,
नक़ली युद्ध, व्यूह की रचना और खेलना खूब शिकार,
सैन्य घेरना दुर्ग तोड़ना ये थे उसके प्रिय खिलवार,
महाराष्ट्र कुलदेवी उसकी भी आराध्य भवानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

(४)

हुई वीरता की वैभव के साथ सगाई झाँसी में
ब्याह हुआ रानी बन आई लक्ष्मीबाई झाँसी में,
राजमहल में बजी बधाई ख़ुशियाँ छाई झाँसी में,
सुभट बुन्देलों की विरुदावलि सी वह आई झाँसी में।
चित्रा ने अर्जुन को पाया 'शिव से मिली भवानी थी'।
बुन्देले हर बोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
ख़ूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

(५)

उदित हुआ सौभाग्य। मुदित महलों में उजियाली छाई,
किन्तुकाल-गति चुपके-चुपके काली घटा घेर लाई,
तीर चलाने वाले कर में उसे चूड़ियाँ कब भाई,
रानी विधवा हुई हाय! विधि को भी नहीं दया आई,
निःसन्तान मरे राजा जी रानी शोक समानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
ख़ूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

(६)

बुझा दीप झाँसी का तब डलहौज़ी मन में हरषाया,
राज्य हड़प करने का उसने यह अवसर अच्छा पाया,
फ़ौरन फौजें भेज दुर्ग पर अपना झण्डा फहराया,
लावारिस का वारिस बनकर ब्रिटिश राज्य झाँसी आया,
अश्रुपूर्ण रानी ने देखा झाँसी हुई विरानी थी।
बुन्देला हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
ख़ूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

(७)

अनुनय विनय नहीं सुनता है, विकट शासकों की माया,
व्यापारी बन दया चाहता था यह जब भारत आया,

डलहौज़ी ने पैर पसारे अब तो पलट गई काया,
राजाओं नव्वाबों को भी उसने पैरों ठुकराया,
रानी दासी बनी, बनी यह दासी अब महरानी थी।
बुन्देले हर बोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

(८)

छिनी राजधानी देहली की लखनऊ छींना बातों बात,
क़ैद पेशवा था बिठूर में हुआ नागपुर का भी घात,
उदीपूर, तँजौर, सतारा, करनाटक की कौन बिसात,
जबकि सिन्ध, पंजाब, ब्रह्मपर अभी हुआ था वज्रनिपात,
बंगाले, मद्रास आदि की भी तो वही कहानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

(९)

रानी रोई रानवासों में, बेग़म ग़म से थी बेज़ार,
उनके गहने कपड़े बिकते थे क़लकत्ते के बाज़ार,
सरे आम नीलाम छापते थे अंग्रेज़ों के अखबार,
'नागपूर के ज़ेवर ले लो।' लखनऊ के लो नौलखहार।
यों परदे की इज्जत परदेसी के हाथ बिकानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

(१०)

कुटियों में थी विषम वेदना महलों में आहत अपमान,
वीर सैनिकों के मन में था अपने पुरखों का अभिमान,
नाना धुन्दू पंत पेशवा जुटा रहा था सब सामान।
बहिन छबीली ने रणचंडी का कर दिया प्रकट आह्वान,

हुआ यज्ञ प्रारम्भ, उन्हें तो सोई ज्योति जगानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
.खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी ॥

(११)

महलों ने ही आग, झोपड़ी ने ज्वाला सुलगाई थी,
वह स्वतन्त्रता की चिनगारी अन्तरतम से आई थी,
झाँसी चेती, दिल्ली चेती, लखनऊ लपटें छाई थीं,
मेरठ, कानपूर, पटना ने भारी धूम मचाई थीं,
जबलपूर, कोल्हापुर में भी कुछ हलचल उकसानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
.खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी ॥

(१२)

इस स्वतन्त्रता-महायज्ञ में कई वीरवर आये काम,
नाना, धुन्दू पन्त, तातिया, चतुरअजीमुल्ला सरनाम,
अहमदशाह मौलबी, ठाकुर कुँवरसिंह सैनिक अभिराम,
भारत के इतिहास-गगन में अमर रहेंगे जिनके नाम,
लेकिन आज जुर्म कहलाती उनकी जो .कुर्बानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
.खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी ॥

(१३)

इनकी गाथा छोड़, चलें हम झाँसी के मैदानों में,
जहाँ खड़ी है लक्ष्मीबाई मर्द बनी मर्दानों में,
लेफ्टिनेंट वौकर आ पहुँचा आगे बढ़ा जवानों में।
रानी ने तलवार खींच ली, हुआ द्वन्द्व असमानों में।
ज़ख्मी होकर वौकर भागा उसे अजब हैरानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
.खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी ॥

(१४)

रानी बढ़ी कालपी आई कर सौमील निरंतर पार,
घोड़ा थककर गिरा भूमि पर गया स्वर्ग तत्काल सिधार,
यमुना-तट पर अंग्रेज़ों ने फिर खाई रानी से हार,
विजयी रानी आगे चल दी किया ग्वालियर पर अधिकार,

अंग्रेज़ों के मित्र सेंधिया ने छोड़ी रजधानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
.खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी॥

(१५)

विजय मिली, पर अंग्रेज़ों की फिर सेना घिर आई थी,
अबके जनरल स्मिथ सम्मुख था उसने मुँह की खाई थी,
काना और मन्दिरा सखियाँ रानी के संग आई थीं,
युद्धक्षेत्र में उन दोनों में भारी मार मचाई थी,

पर पीछे ह्यूरोज़ आगया, हाय घिरी अब रानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
.खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी॥

(१६)

तो भी रानी मार-काटकर चलती बनी सैन्य के पार,
किन्तु सामने नाला आया, था यह संकट विषम अपार,
घोड़ा अड़ा, नया घोड़ा था, इतने में आ गये सवार,
रानी एक, शत्रु बहुतेरे, होने लगे वार पर वार,

घायल होकर गिरी सिंहिनी उसे वीरगति पानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
.खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी॥

(१७)

रानी गई सिधार, चिता अब उसकी दिव्य सवारी थी,
मिला तेज से तेज, तेज की वह सच्ची अधिकारी थी,
अभी उम्र कुल तेइस की थी, मनुज नहीं अवतारी थी,
हमको जीवित करने आई बन स्वतन्त्रता नारी थी।
दिखा गई पथ, सिखा गई हमको जो सीख सिखानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी,
.खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी॥

(१८)

जाओ रानी, याद रखेंगे ये कृतज्ञ भारतवासी,
यह तेरा बलिदान, जगावेगा स्वतन्त्रता अविनाशी,
होवे चुप इतिहास लगे सचाई को चाहे फाँसी।
हो मदमाती विजय मिटा दे गोलों से चाहे झाँसी।
तेरा स्मारक तू ही होगी, तू खुद अमिट निशानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
.खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी॥

गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'

आपका जन्म पौष शुक्ल ७ सम्वत् १६५५ वि० को जौनपुर ज़िले के कुदईपुर गाँव में हुआ। आपने प्रयाग-विश्व-विद्यालय से बी० ए० पास किया है। कुछ दिनों तक 'श्री शारदा' (जबलपुर) 'मनोरमा' तथा 'बालसखा' (प्रयाग) का सम्पादन करने के पश्चात् अब बराबर स्वतंत्र रूप से साहित्यिक जीवन व्यतीत कर रहे हैं। आपका साहित्यिक जीवन पहले-पहल कवि-रूप में ही प्रारम्भ हुआ था। 'रसालवन' तथा 'स्मृति' आपकी उस काल की सुन्दर रचनाएँ हैं। इसके बाद आपका ध्यान स्फुट कविताओं के अतिरिक्त कहानी, उपन्यास तथा साहित्यालोचन विषयों पर चला गया। फलतः 'गुदियों का ढब्बा' (कथा-संग्रह) सन्देह, बाबू साहब, प्रेम की पीड़ा, पाप की पहेली, बहतापानी तथा नादिरा (उपन्यास) एवं 'महाकवि हरिऔध' और 'गुप्तजी की काव्य-धारा' नामक आलोचना ग्रंथ लिखकर आप ने बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया। आपके इन समालोचना-ग्रंथों ने हिन्दी के आलोचनात्मक साहित्य में अपना एक सम्मानपूर्ण स्थान बना लिया है। लगभग दस वर्ष की साधना के पश्चात् अभी गत वर्ष आप ने 'तारक बध' नामक एक महाकाव्य पूर्ण किया है। यह एक विशालकाय काव्य-ग्रन्थ है और लगभग चार सहस्र छंदों में समाप्त हुआ है। इसमें कवि ने नवो रसों का सफलता-पूर्वक निर्वाह किया है। इसी काव्य से वीर रस-सम्बन्धी कुछ अंश यहाँ दिये जाते हैं।

'गिरीश' जी एक साधना-रत साहित्यिक हैं और सस्ती प्रदर्शन-विधा से सदा दूर रहते हैं। आप से हिन्दी-साहित्य बहुत आशा रखता है।

'रणगीत'

(१)

हमें करना है अरि-संहार।
लवे पर जैसे झपटा बाज।
शत्रु को हम मारेंगे आज।
हथेली पर रख कर के प्राण।
धरेंगे सिर पर यश का ताज।
खड्ग को देना है आहार।
हमें करना है अरि-संहार।

(२)

सिन्धु के भीतर भी धँस जाय।
शत्रु तब भी होगा असहाय।
हमारा क्रोधानल अति चण्ड।
उसे कर डालेगा निरुपाय।
यही है कोसल की ललकार।
हमें करना है अरि-संहार॥

(३)

भिड़ेगा जब कोसल का वीर।
रहेंगे कैसे दानव धीर।
हवा ने बादल के दल घोर,
नहीं कब डाले पल में चीर।
हमारा होगा वज्र प्रहार।
हमें करना है अरि-संहार

महाराज दशरथ का रणप्रयाण

(१)

खाद्य-द्रव्य भार चला
अम्बर अपार चला
खीमों का पहाड़ चला
द्रुतगामी यानों पर
और पीछे-पीछे मत्त
योधा चले दशरथ के—
अन्धकार-मग्न निशा उर को
विदार कर
जैसे चण्डरश्मि धावे
सप्त अश्व-रथ पर।
प्रलय के मेघ जैसे चले
ले अपार वारि
त्योंहीं चले दशरथ के
सैनिक गण
अस्त्र-शस्त्र-सज्जित।

(२)

बीस-बीस सहस की
टोली एक सेनाधिप
नियमित पदपात
नियमित उत्थान
हृदय में अदम्य अहंकार दृढ़ संकल्प
मारण मरण का

चञ्चल अश्व जैसे, क्रोध से प्रमत्त हो
लगाम ये चबाते
त्योंही बैरी पर आक्रमण
करने में एक पल की भी देर
दुस्सह विचार कर
योधागण
अस्थिर हो खीझते हुए चले।
ऐरावत-मान को मिलानेवाले धूलि में
गजराज
स्वर्णमढ़े दन्तों की छटा से
घनदामिनी का दृश्य
नभमण्डल से छीनकर
धरा परलाते हुए
भावी प्रलयंकर समर-विभीषिका से
दिल दहलाते हुए—
झालरों से शोभामय पीठ पर हौदे धरे
जिनमें विराजमान
तेज के निधान
महानिश्चय की आभा से विमण्डित महारथी
शतशत की पंक्ति में आगे बढ़ने लगे।

(३)

सिंह गर्जनों में रत
सेना चतुरङ्ग चली
या कराल यमराज लक्ष-लक्ष रूप धर
ज्वलित हुताशन की
ज्वाला में ढले हुए
चले उदरस्थ करने को उन्हें—
जिनकी जीवन की अन्तिम घड़ी
थी बाट जोहती।
या प्रचण्ड पावक के
अङ्गारक लक्ष-लक्ष
भीषण प्रचण्ड दीप्त
तूल बन और लप-लप जीभ करते
प्रबल प्रभञ्जन की पाकर सहायता
प्रलयंकर नादमय वेगवान लपके।
अथवा विक्षोभ से तरङ्गित महासमुद्र
आनन असंख्य
किसी धृष्ट ग्राम का
विनाश करने के लिये
हरहर महारव द्वारा
दिशा विदिशाओं को
बधिरता प्रदानरत
वीर में भी भीरुता औ
चलता अल्पल में भी
शून्य में भी हाहाकार
नाद संचारित कर
चारों ओर फैले
अथवा वे शेष नाग
क्रुद्ध महीपीड़ा से
दिग्गजों को सौंप भार
धरा को सम्हालने का

नीचों के पराभव निमित्त कढ़ नीचे से
सहसफनों को जोड़ अगणित लक्षशः
और, विषदंशन का दान करने के लिये
धरा त्रासकों का अवसान करने के लिये
फुफकार करते
बाण ही का भाँति गमने।

उद्बोधन

(१)

महाराज रोकें मत हमको
गुरु आशीष हमें दें।
सेना सहित समर प्राङ्गण में
हम सबको चलने दें।
सेना भी न मिलेगी तो हम
आप चले जायेंगे।
आगे हम होंगे पीछे सब
सहज खिंचे आयेंगे ॥१॥
सेनापति ने यों कहकर सब
युवकों को ललकारा।
कायर हो जो शीघ्र यहाँ से
वह कर जाय किनारा।
"कायर रहते नहीं अवध में"
सब ने शोर मचाया।
सूर्यवंश पौरुष में किसने
कहाँ कलङ्क लगाया ॥२॥

लक्ष लक्ष जन बाँध-बाँध दल
राजभवन को धाये।
आगे-पीछे कितने बालक
और वृद्ध भी आये।
कितनी ही नारियाँ पधारीं
चण्डी-सी लयकारिणि।
दृष्टिमात्र से प्रबल विरोधी
साहस बल क्षय कारिणि ॥३॥
रण की आज्ञा मिले सैन्य सब
हो अविलम्ब प्रचालित।
तारक की शोणित नगरी हो
शीघ्र रक्त-प्रक्षालित।
'रण हो रण हो' एक यही थी
चिल्लाहट सब जन की।
प्रबल भीड़ से धरती काँपी
शङ्कित राजभवन की ॥४॥
बजा शीघ्र ही रण का डङ्का
होनी लगी तयारी!
लगे नाचने गाने हँसने
रणोन्मत्त नर-नारी।
हलचल मची अवध में घर-घर
बालक वृद्ध उमङ्गित।
सेनापति—आज्ञा-विलम्ब भय
से रह-रहकर शङ्कित ॥५॥
नहीं सम्हाल सके नृपवर भी
"फड़कीं वीर भुजाएँ।

भौहें तनी कढ़ीं नैनों से
पावक की ज्वालाएँ।
कोसल जाय रहूँ मैं बैठा
यह क्यों हो पावेगा।
नीच निशाचर मेरे हाँथों
यम के घर जावेगा ॥६॥
प्रथम बार ही गुरु की आज्ञा
नहीं उन्होंने मानी।
सेना के प्रधान सञ्चालक
बन चलने की ठानी।
महारानियों का भी आग्रह
बढ़ा अमित मात्रा में
कायर होकर बैठें क्यों हम
चलें न रण-यात्रा में ॥७॥

गीत

चलो रण में हे धीर
शान्ति में कायर वीर समान।
समर में दोनों की पहचान।
भाग्य से आया समय महान्।
प्रेम से गाओ रण का गान।
शत्रु के उर में मारो तीर।
चलो रण में हे धीर
प्रकृति का आया है आह्वान।
हमें करना संहार विधान।
विश्व का हो नव-नव निर्माण।
विधात्री ले अपना बलिदान
वक्ष बैरी का डालो चीर।
चलो रण में हे धीर।
मांस वैरी का खाना है।
रक्त से प्यास बुझाना है।
विजेता बन कर आना है।
अम्ब का पूत कहाना है।
सिंह जैसे तड़पो हे वीर।
चलो रण में हे धीर॥

जगदम्बाप्रसाद मिश्र 'हितैषी'

जन्म मार्गशीर्ष शुक्ल ११ संवत् १९५२ विक्रमी, निवासी गंजमुरादाबाद, ज़िला उन्नाव। आजकल आप कानपुर में रहते हैं।

'हितैषी' जी हिन्दी के एक लब्धप्रतिष्ठ कवि हैं। उनकी कविता का क्षेत्र बहुत व्यापक है। प्रारम्भ में आप कवि-सम्मेलनों के लिए समस्या-पूर्ति के रूप में कविताएँ लिखा करते थे। काव्य की शिक्षा आपको कविवर 'सनेही' जी से मिली है। अतएव आपका प्रारम्भ रीतिकालीन धारा के कवियों के अनुरूप हुआ। किन्तु स्वभावतः वीर हृदय होने के कारण आप राजनीतिक आन्दोलन में पड़ गये और आपकी भावनाओं में निरन्तर तदनुरूप परिवर्तन होते गये। आपने उग्र-राजनीति से भरी हुई कुछ ऐसी कविताएँ लिखीं, जो तत्काल ज़ब्त हो गईं। परन्तु राष्ट्रीयता के रंग में पूर्णरूप से रँग जाने पर भी आप में हिन्दुत्व के प्रति अभिमान की मात्रा कम नहीं हुई, वरन् उस पर आघात होते देख आप अस्थिर हो उठे। फलतः आपने कुछ ऐसी कविताएँ भी लिखीं, जो हिन्दू-सभा की मान्यताओं के अनुरूप हैं। कारागार-प्रवास के सिलसिले में आपको विश्व-कवि उमरख़य्याम की कविता के अध्ययन करने का अवसर मिला और मुक्त होने पर भी आप उसमें लीन रहे। फलतः लगभग दस वर्ष तक आपने उमरख़य्याम के साथ-साथ अन्य अनेक सूफ़ी कवियों का भी अध्ययनकर उनकी रुबाइयों का 'मधु-मंदिर' नामक एक सुन्दर अनुवाद किया। हिन्दी में यद्यपि इस कवि पर अनेक साहित्यकारों ने कार्य किया, किन्तु 'हितैषी' जी को इस विषय में सबसे अधिक सफलता मिली है। यहाँ तक कि अनुवाद न रहकर वह एक स्वतंत्र ग्रंथ बन गया है। किन्तु इस सिलसिले में सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह हुई कि जीवन और जगत को देखने में आपका दृष्टिकोण दार्शनिक हो गया। अतएव आपने अपनी मान्यताओं के अनुरूप स्वतंत्र रूप से एक काव्य-ग्रंथ लिखा। ये दोनों काव्य-ग्रंथ प्रकाशित होने पर हिन्दी काव्य के एक बड़े अभाव की पूर्ति करेंगे।

अब तक 'हितैषी'जी के 'कल्लोलिनी' तथा 'वैकाली' नामक दो कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। उनकी 'वैकाली' में वीररस की उत्कृष्ट रचनाएँ हैं। 'हितैषी'जी को कई रसों पर अधिकार प्राप्त है। 'हास्यरस' में उनका कवि-कौशल तो हिन्दीजगत् में विख्यात है। व्यावहारिक जीवन में आप बड़े ही कर्मठ, स्वभाव के हँसोड़, कवि-कल्पना में प्रखर, गम्भीर और भाव-प्रवण व्यक्ति हैं। यद्यपि आपका विकास ठीक ढंग पर नहीं हुआ, किन्तु जहाँ तक प्रतिभा का सम्बन्ध है, आपकी श्रेणी के हिन्दी में इने-गिने कवि हैं।

बजरंग वन्दना

किलकि किलकि कूर कायर कलंकिन कौं
कुदकि कुदकि कसि कसि कै कुचलि दे।
दानव-दलन दुख दारुण सों दाबि दाबि
दारिद सों द्वंदन सों दंभिन दहलि दे।
मलि मलि मसि महामूढ़न के मुख माँहिं
मारि मगरूरनि मसक सो मसलि दे।
बाँके बलवीर बरदानियाँ विदित वेष
वीर बजरंग बैरीवृन्दन की बलि दे॥

अनुरोध

त्रान साधुओं का औ असाधुओं का अवसान
धर्म-रक्षा कान भगवान वादा टल जाय।
सुकवि हितैषी वीर रूप धर आओ शीघ्र,
देख जिसको कि दिल दुष्टों का दहल जाय।
जैसे केशी, कंस, कालयवन पै, कौरवों पै,
बदली थी उसी भाँति तेवरी बदल जाय।
नाश कर देने को कुचक्र को कुचक्रियों के,
चक्रधारी! फिर एक बार चक्र चल जाय!

दुःखद चिन्ता

योंही बात बात पर इज़्ज़त गँवायेंगे क्या ?
आततताइयों के आगे कोई न अड़ेगा क्या ?
रहने न पायगा धरा पै हिन्दूधर्म ही क्या ?
झंडा यों अधर्म ही का भू पर गड़ेगा क्या ?
ह्रास न हड़ेगा अपना ही क्या हितैषी हमें ?
कर में कभी न कोई शस्त्र पकड़ेगा क्या ?
धाओ कमला के कन्त, अन्त होता हिन्दुओं का,
हा ! हा ! हन्त को भी दिन देखना पड़ेगा क्या ??

वीर-साधना

[१]

भैरव-रव का भी हृदय-भेद, नीरवता को कर कम्पमान
गूँजा अदृश्य कर्कश स्वर में तुम कौन अरे ! साधकमहान ?
रुक गया नदी का तीव्र वेग, पशु-पक्षी सब हो गये शान्त
"साधक महान तुम कौन अरे !" फिर गूँज उठा वह क्षुद्र प्रान्त
कुछ भ्रू कुञ्चितकर मुद्रित-दृग बोला वह साधक सह-विवेक
हूँ दलित, पतित, पीड़ित जग का ठुकराया मैं नर तुच्छ एक
जिसके दिक् जग देखता नहीं जिसने देखा है नहीं स्नेह
प्राणों ने पायी नहीं प्रीति जिसकी दुलार से रहित देह
सन्तप्त एक मैं हूँ जिसको तरुने भी छाया की न दान।
विषसिन्धु अमृत का बिन्दु जिसे बन गया इन्दु भी अंशुमान।
मुँह फेर-फेर संध्या जिसका करती रहती थी रक्त-पात,
काली कराल थी जिसे रात, जिस पर हँसती थी उषा-प्रात
हँसते थे जिसपर वनजफूल, जिसके आगे थे अड़े शूल
पग-पग रोड़े अटके अनेक जिसने मग पाये भरे भूल
दर-दर फिर आदरहीन हाय स्थिर होने का पाया न स्थान

बढ़ा बात कर लिये उसी ने बन्द कान
सुख का भी मुख देखा न औ' न दुख-हन्ता ही दुख मिला अन्य।
हँसने को गृह तो क्या, न कभी रोने को भी पाया अरण्य।
इस दिक् से उस दिक् तक न एक पाया स्वव्यथा से व्यथित जीव
श्रद्धा से जिसके गया पास उसने ही कर ली वक्र ग्रीव।
'दुर्दुर-दुर्दुर' ही सुने शब्द सुन सके प्रेम-वाणी न कान।
निष्ठुर अतीत, दुर्दिन भविष्य, जिसको विपत्ति है वर्तमान।

[२]

मेरा उर निर्मल मुकुर आज आघातों से है चूर-चूर,
मानव रूपी दानव-समाज चल हट, चल हट, हो दूर-दूर !
यह मृग-मरीचिका आकांक्षा मेरे उर-अन्तर की अतृप्ति
सुस्पंदित मेरी चित्त-वृत्ति जाने पायेगी कहाँ तृप्ति
काली कराल कामना मुझे घेरे फिरती हैं आधि-व्याधि
इस हेतु आज इनको आया हूँ देने मरघट में समाधि
जग के क्रूरों के अन्न-कौर हो रहे आज मुझको हराम
उनके शव का ही मांस भक्ष्य मेरा है मैं हूँ विगत काम
मुझको क्या करना दिव्य वस्त्र उल्लंघ-रूप मैं परमहंस
उन कुटिलों की है चिताभस्म मेरी विभूति मैं हूँ नृशंस
शव-सिर फल, सरि-जल भक्ष्यपेय, है कपालास्थि ही पान-पात्र
परिवार, कुटुंबी और गेह. है केवल मेरी देहमात्र
मैं घृणा-रहित, वासना-रहित, मुझको न द्वेष, मुझको राग
'हर-हर प्रलयंकर' मंत्र एक है मेरे जीवन का विहाग
यह विश्वस्थित वैभवविशाल मुझको दे मत भिक्षा अवश्य
'नर को नर तो समझे' मुझसे ले ले इतनी शिक्षा अवश्य
पहले का परिचित शब्द हुआ, मिट गई भ्रान्ति मिट गई भ्रान्ति
समझा, मैं समझा जीवन का है लक्ष्य एक ही क्रान्ति-क्रान्ति !

—'वैकाली' से।

उदयशंकर भट्ट

जन्म-संवत् १९५५ वि०, निवास-स्थान लाहौर। वहाँ आप सनातन धर्म-कालेज में हिन्दी के प्रोफ़ेसर हैं।

भट्टजी हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ कवि और उच्चकोटि के नाटककार हैं। जिन साहित्यकारों ने आधुनिक हिन्दी-साहित्य का अपनी अभिनव प्रतिभा से आलोकितकर उसे सामर्थ्य, बल और गति दी है, उनमें आज भट्टजी निस्सन्देह अग्रणी हैं। अब तक आपके पाँच-सात काव्य और लगभग दस नाटक प्रकाशित हो चुके हैं। प्रारम्भ में आप रहस्यवादी कवि थे और आपकी गणना 'प्रसाद' स्कूल के कवियों में होती थी। किन्तु इधर आप अपनी कविता में जीवन की यथार्थ स्थितियों, मान्यताओं और उसकी प्रत्यक्ष सम्भावनाओं को निकट से देखते और उन पर एक आलोचक की-सी सजग दृष्टि रखते चलते हैं। हमारे आज के जीवन में जो विषमता, कटुता और दयनीय हीनता फैली हुई है, महत्त्वाकांक्षाओं के संघर्ष और अप्रत्याशित असफलताओं के आघात से आज का औसत मनुष्य जिन विकृत मनस्थितियों का शिकार हो रहा है, भट्टजी उनके-आधारभूत कारणों के समीक्षक है।

भट्टजी की कविताओं में वीर भावों का यथेष्ट समावेश है। वे विध्वंस को कालचक्र एक अनिवार्य अंग मानते हैं और क्रान्ति के भीतर भी एक नव-निर्माण की झलक देखते हैं। हिन्दी की प्रगतिशील काव्य-धारा में आज भट्टजी ही एकमात्र ऐसे श्रेष्ठ कवि हैं, जिनकी अभिव्यक्ति में एक तत्वविष्ठ दार्शनिक की सी दृष्टि हमें मिलती है।

भ्रातृ-युद्ध

इस प्रकार सुविवेक-शून्य
भूपति ने रण की ठानी
भ्रातृ-भाव की हुई इतिश्री
विजयश्री ललचानी।

स्वार्थवाद ने संसृति में
घर-घर डाला है डेरा
पशुबल ने सानन्द बसाया
पाप ताप बहुतेरा।

कर्तव्यों में दम्भभाव की
गहरी छाप रहा है,
सात्विक नद में तमोगुणों की
धारा वृत्ति नहीं है।
कपट, ईर्ष्या, मद, माया का
पलड़ा झुका रहा है।
मृदुता में पारुष्य, कुसुम को
कंटक घेर रहा है।
धर्म पाप परिभूत, सभ्यता
आडम्बर जननी है
लाञ्छन रहित सुधाधर है,
बाँसों में अग्नि बनी है।
काञ्चन में काठिन्य, गुणी में
दारिद बसा हुआ है
सत्यों में कटूक्ति संयम में
साधन फँसा हुआ है—
है संयोग वियोग विमिश्रित
माधव ग्रीष्मान्तक है
जीवन मृत्यु मुखापेक्षी है
सुख सब दुःखान्तक है—
राजनीतियों के पर्दों में
अंतिम नाश गसा है
तृष्णा का विकास भरमाकर
नर को कब न हँसा है।
नीच कामना-पूर्ति ले रही
कर्तव्यालम्बन है
पाप-व्याध जाल फैलाकर
फिरता जन कानन है।
मिथ्या मिश्रित सदाभास के
पर्दों में ही दुख है
स्वच्छ भावना हृदयों में हो
यदि तो दुख भी सुख है—
फलतः उस निरीह भाई पर
भरत सदल चढ़ आया
तिमिराच्छन्न सूर्य को करके
भूमंडल दहलाया—
अगणित सेना में अनथक
बल साहस उमँड़ रहा था
मानो हो उद्बुद्ध वीर रस
सागर उभर रहा था—
शक्ति, परशु, तोमर, भालों से
शर से सैन्य सजी थी
कहीं भुशुण्डी, दण्ड, शतघ्नी
शकटावली सजी थी
संख्यातीत नाग अश्वों पर
विकट वीरतावाले
धारे सायक तीक्ष्ण गरलमय
नायक थे मतवाले—
मत्त मदोत्कट विकट नाग पर
भरत भूप बैठे थे,
हृदयद्रावक रुद्र शक्तिधर
देह धरे ऐंठे थे।
सचिवाग्रणी तदनु सेनानी
शूर सुषेण बली थे,

कंपित भूतल, विदलित
अरि दल, हर्षित चित्तहली थे
झंझामद भंजन, शत्रु प्रभंजन,
तुंग तुरंगम चलते
निज पत्तानंदन शत्रु-निकंदन
स्पन्दन मन्दन चलते
नाडिन्धम निर्घोषों से नभ
मंडल मंडित करके
धूसर धूलि धरा से धवलित
अम्बर में रज भर के
अरिदल-घर्षिणि रण-प्रहर्षिणि,
सेना मद माती-सी
तक्षशिला के निकट चली
पहुँची सत्वर तड़िता-सी।
यथासमय संवाद मिला
नृप को उनके आने का
स्वार्थों का संग्राम छिड़ा
पृथ्वी पट अपनाने का
भाई का भाई से रण था
स्वार्थ साधना धन था
ऐश्वर्य्य के दो दासों में
जय का छूँछापन था
दृश्य कहाँ भूला यह भारत
भरत राम जीवन का
आत्म-समर्पण भाई पर
करना जिनका संघत था
त्याग जहाँ उन्नति था, अवनति
आत्म-विभूति प्रवर्धन
रोग वासना जहाँ रूप विष
काम-कला कुत्सित मन
जीवन जहाँ परोपकार था
मृत्यु प्रजा-हित हानी
धन देने के लिए, पराक्रम
दीन-त्राण निसानी
रणभेरी ने भैरव स्वर से
वीरों ने हुंकृति से
अश्वों ने हिनहिना, गजों ने
निज शुंडाकृति गति से।
शस्त्रों ने झनझन कर
खरतर अस्त्रों ने नभ छूकर
दिया शतघ्नी ने गर्जन कर
भरत भूप को उत्तर
सेनाएँ बढ़ चलीं उदधि-सी
विजय तरंगें लेतीं
उद्भट, विकट वीर रस
उत्कट साहस-तरु को सेतीं
अश्व पंक्तियाँ, गजालियाँ
अथरथ पर सेना चलती
भरत सैन्य सागर शोषण को
बड़वानल-सी जलतीं
विजयश्री की ललित लालसा में
उन्मत्त सुभट थे
क्षात्रधर्म-पालन चिंता में
हुआ प्रात जय रहते

कवच विचुंबित शस्त्र-साधना
में अति लुप्त सभी थे
युद्ध-तीर्थ से मोक्ष-प्राप्ति में
तत्पर हुए सभी थे।
रणोन्माद मद पिये हुए
सेनाएँ बढ़ कर आयीं
कालान्तक सम मिथः शत्रु पर
कोप-दृष्टि दौड़ाईं
निर्घोषों से नभ कम्पित कर
तड़िता से चमकाते
अस्त्र-शस्त्र सन्नद्ध हुए
यमदण्ड प्रचण्ड दिखाते
वज्र-दण्ड से नग स्फोट-सी
चण्ड ध्वनि होती थी
उद्धत उदधि तुंग वीची-सी
विभीषिका होती थी।
कालदंड कल्पान्तक करने
को बढ़ता-सा आता।
तड़ित लास्य सा विकट रुद्र का
अट्टहास सुन पाता।
प्रलयकाल ही लख अकाल में
अमर उठे घबरा के
जय-जययुक्त नीतिमय
बोले वचन भरत से आ के
हे नरदेव देवपति सम ही
आप महाराजा हैं
कोई नहीं प्रतिस्पर्द्धी है
सभी विनीत प्रजा हैं।
महामते, क्यों रण ठाना है
भाई से भूपति ने
यह अदूरदर्शिता अनुभव-
शून्य कृत्य मतिहीने
विश्व-विजय करने पर भी
क्या रण की चाह बनी है!
इन्द्रिय-वृद्ध वृद्ध सम समधिक
वृत्ति विलास सनी है
भ्रातृयुद्ध है दो हाथों का
मिथः प्रपीड़न-सा ही
विजयश्री की अधिगति में
सन्तोष अभाव नशा ही
ज्यों उन्मादी गज-गण्डस्थल
घिसता वृक्ष विकट से
तव भुज भी गज गण्ड
कण्डु सम चाहें अरि उद्भट से
किन्तु विनाश जीव का होगा
यह न विचार रहा है
आमिषभोजी सम हिंसा का
क्रूर प्रवाह बहा है
चन्द्रबिम्ब से अग्निवृष्टि
ज्यों सम्भव नहीं कभी है
उसी तरह तेरा यह भूपति,
संगर-युक्त नहीं है।
यती संग सम युक्त तुम्हारा
रण से उपरत होना

बीज न राम-भूमि पर भूपति
भ्रातृ-द्रोह का बोना—
कारणजन्य कार्य सम भ्राता
हटते लौट पड़ेगा
विश्व त्त्रय में कभी न तुम से
हे नृप, वह अकड़ेगा।
सुख से लौट चलो हे भूमिप
दलबल सब ले जाओ
नाश नीति से पालन सुन्दर
जग को यह दिखलाओ—
प्रत्युत्तर देने में तत्पर
अपराजित बल, बोले
युक्तियुक्त हैं वचन तुम्हारे
सत्य सुरुचि के घोले।
कोई नहीं प्रतिस्पर्द्धी है
यद्यपि ठीक कहा है
अभिमानी का मान तोड़ना
भी नृप-नीति कहा है—
पिता समान मानता मुझको
बाहुबली पहले था
विजय-दण्ड सम आदेशों को
शीस झुका के लेता—
है यथार्थ परमार्थ रूप
यह बात मुझे तो खलती
इसीलिये रण छेड़ा मैंने
दमन नीति ही फलती—

देवों ने फिर कहा भूप
यह कारण गूढ़ नहीं है
स्वार्थ वासनाएँ उत्कट हो
तुमको मूढ़ नहीं हैं—
अस्तु यही हो जो तुम
चाहो किन्तु विनय तो मानो
द्वन्द्व युद्ध ही करो परस्पर
विजय-चिह्न यह जानो—
इसी बात का निश्चय हम तव
भ्राता से कर देंगे
तत्पर उन्हें इसी पर करके
वचनबद्ध कर लेंगे—
यह कह देव बाहुबलि सम्मुख
पहुँचे सत्वर जाके
बैठे अत्यादृत हो नृप से
सारी कथा सुना के—
रण-परिणाम दिखाकर नृप से
कहा—युद्ध मत रचना
जगत-नाश के कारण
बन मत द्रोह-ताप से तचना—
यदि अनिवार्य कार्य यह रण हो
द्वन्द्व युद्ध सुन्दर है
पौरुषमयी परीक्षा का यह
अनुपम एक मुकुर है।
शिष्ट-श्लिष्ट सरस भाषा में
नृप वे उत्तर देते

रण-चातुर्य-शौर्य-सौरभ से
सज्जित करवँट लेते
कहा अधृष्य शिष्य हूँ गुरु का,
सेवक सखा प्रजा का
गौरव शाली का गौरव हूँ
मित्र सदाशयता का
द्वन्द्व युद्ध भी मुझे मान्य
सामान्य युद्ध को तजकर
नहीं मुझे इच्छा है केवल
भाई आये सज कर
विनय, नीति, मति, शुद्ध
न्याय पे किंचित भी न टरूँगा
जैसी इच्छा हो भाई की
मैं भी वही करूँगा
हो कल्याण, चले यह कह सुर
निकट भरत के आये
द्वन्द्व युद्ध के लिए समुद्यत हैं
ये वाक्य सुनाये।
तक्षशिलापिने प्रतिहारी
को फिर इधर बुला के
नर-संहारक रण यह अनुचित
कह सबसे समझा के
भरत और मैंने प्रतिहारी
द्वन्द्व युद्ध सोचा है
मनुज-नाश से यही भला है
जो यह कार्य रचा है
सिर धर राजाज्ञा प्रतिहारी
कहने लगा स्वदल से

युद्ध न होगा सम्प्रति सैनिक
गण अपना अरिदल से
जनविनाश से घबराकर
देवों ने विनती की है
द्वन्द्व युद्ध जय दा राजों की
सात्विक विजयश्री है
एक विशाल अखाड़े में
चक्री का, बाहुबली का
मल्ल युद्ध होगा तब देगी
विजय-पताका टीका।
वज्र ध्वनि सी शुष्क गिरा
सुन सेना शोक मलीना
पंकज वृन्द तुषार पात-सी
हुई दुखी अति दीना।
सम्मुख भोज्य पदार्थ छीन-सा
लिया गया हो ऐसे
गोदी से ही छीन लिया हो
शिशु माता का जैसे
क्रूर निराशा ने तोड़ा सब
दिल उन त्रिकट भटों का
विधि ने बढ़ती आशा को दे
झोंका मानो टोका
सारे ही अरमान सिराने
मन प्रसून मुरझाने
देता हो रह-रह मानो दुर्भाग्य
पुराने ताने

व्यर्थ हो गई शस्त्र चातुरी
हुआ अनर्थ घनेरा
हृदय-स्पन्दन बन्द हुआ
सब दुःखों ने आ घेरा
साहस सहमाया बल पूजा
विक्रम वक्र-क्रम-सा
ओस उसासें भरता, विभ्रम
बहक गया दिग्भ्रम-सा
उधर बनाया गया एक
अति सुन्दर रम्य अखाड़ा
दर्शक पीठ चतुर्दिक आगे
भेरी पटह नगाड़ा
गलित गण्ड गज स्वर्ण पीठ पर
बैठ भरत नृप आये
ध्वजा उड़ाकर सिंहासन-सा
करते रक्षक धाये
इसी तरह रण रक्त क्षितीपति
तक्षशिला से आकर
उन्द्व युद्ध के लिए समुत्सुक
देखे खड़े सभी नर
उचित युद्ध परिधान पहिन
दोनों ने हाथ मिलाया
विजय कामना ने दोनों में
साहस ओज बढ़ाया
ताल ठोक भूखण्ड कँपाते
गुरुतर गदा चलाते
आघातों का उत्तर देते
दिग्गज मत्त डुलाते

हुई युद्ध की वृष्टि-सी गर्जना
महाताल-सी ताल की तर्जना
किया वज्र निर्घोष यों तक्ष ने
नगस्फोट जाना प्रजा पक्ष ने
पूर्ण मुष्टि आघात
परस्पर नृप थे करते
धूलि भरे, रण रंग
मत्त रणभूमि विचरते
गेंद समान उछाल
विशाल भुजा में धरते
रण का रुद्र प्रकार
बढ़ा भीषणता भरते
आकर्षण, उत्क्षेप का
घर्षण शक्ति विलास था
उत्सर्पण उत्काल का
भीषण भाव विकास का
क्रम क्रम से विक्रम भर
नरपति ताँक-झाँक कर
अट्टध्वनि कर झटिति झपटते
रण मद से भर
दुर्दमनीय दुराशा-जय से
निर्भय बढ़कर
दाँव-पेंचकर एक दूसरे
से भिड़-भिड़ कर
द्वन्द्व युद्ध में मग्न थे
भरत बाहु-बलि भूमि धर
—'तक्षशिला से'

रामधारीसिंह 'दिनकर'

निवासी सिमरिया (मुंगेर) आजकल मधुबनी (दरभंगा) में रजिस्टरी विभाग में सब रजिस्ट्रार हैं।

"दिनकर" जी हिन्दी काव्य की आधुनिक धारा में उस श्रेणी के कवि हैं, जिन्होंने भारतवर्ष की साधारण जनता के जीवन को निकट से देखा और उसके मनोभावों को उसी स्तर से उठाकर उन्हें अपनी तीव्र और पारदर्शी समवेदना से अनुप्राणित किया है। उनकी कविता में ग़रीब-से-ग़रीब किसान और मज़दूर की दिनचर्या से चित्र खींचा गया। और कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है, मानों वह उनकी दैनिक आवश्यकताओं, असफलताओं और खीझों का साझीदार बन गया है।

किन्तु 'दिनकर' जी की एक विशेषता और हैं। उन्होंने प्रेम, मिलन विरह और विच्छेद की भूमि पर जीवन के चिरन्तन रूप की जो झाँकियाँ अपने गीति काव्य में उपस्थित की हैं, उनमें भी नारी अथवा प्रेयसी की कल्पनाएँ नगरों के कृतिम जीवन से न लेकर प्रायः ग्राम जीवन से ली हैं। कदाचित् यही कारण है कि प्रगतिवादी होने पर भी उनके वर्णन और चित्राकण सांस्कृतिक मान्यताओं और परम्पराओं से विशेष संलग्न प्रतीत होते हैं।

दिनकर जी की कविताओं में वीर भावों का भी अच्छा समन्वय है। अतीत के गौरव-गान और भविष्य के आलोक-दर्शन में उनकी कई रचनाएँ अतीव सुन्दर हैं। अबतक आपके रेणुका, हुंकार···

आदि कई कविता संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं और आज आप हिन्दी काव्य के प्रगतिशील वर्ग में सांस्कृतिक मान्यताओं के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं।

हिमालय के प्रति

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !
साकार, दिव्य गौरव विराट
पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल
मेरी जननी के हिमकिरीट
मेरे भारत के दिव्य भाल
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !
युग-युग अजेय, निर्बन्ध, मुक्त
युग-युग गर्वोन्नत, नित महान
निस्सीम व्योम में तान रहे
युग से किस महिमा का वितान
कैसी अखंड यह चिर समाधि
यतिवर ! कैसा यह अमर ध्यान
तू महा शून्य में खोज रहा
किस जटिल समस्या का निदान
उलझन का कैसा विषम ज्वाल ।
मेरे नगपति ! मेरे विशाल ॥
ओ मौन तपस्या लीन यती
पल भर तो कर नयनोन्मेष
रे ज्वालाओं से दग्ध विकल
है तड़प रहा पद पर स्वदेश
सुखसिन्धु पंचनद ब्रह्मपुत्र
गंगा, यमुना की अमिय-धार
जिस पुण्य भूमि की ओर बही
तेरी विगलित करुणा उदार
जिसके द्वारों पर खड़े क्रान्त
सीमापति ! तू ने की पुकार
'पददलित इसे करना पीछे
पहले ले मेरा सिर उतार'
उस पुण्य भूमि पर आज तपी
रे आन पड़ा सङ्कट कराल
व्याकुल तेरे सुत तड़प रहे
दारुण दुख ज्वाला में बेहाल
मेरे नगपति; मेरे विशाल
कितनी मणियाँ लुट गईं ? मिटा
कितना मेरा वैभव अशेष
तू ध्यान मग्न ही रहा, इधर
वीरान हुआ प्यारा स्वदेश
कितनी द्रुपदा के बाल खुले
कितनी कलियों का अन्त हुआ
कह हृदय खोल चित्तौर ! यहाँ
कितने दिन ज्वाल वसन्त हुआ
पूछे, सिकता कण से हिमपति
तेरा वह राजस्थान कहाँ
वन-वन स्वतन्त्रता-दीप लिये
फिरने वाला बलवान कहाँ
तू पूछ अवध से, राम कहाँ
वृन्दा, बोलो घनश्याम कहाँ
ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक
वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ ।
पैरों पर ही है पड़ी हुई

मिथिला भिखारिणी सुकुमारी
तू पूछ, कहाँ इसने खोई
अपनी अनन्त-निधियाँ सारी।

री कपिल वस्तु ! कह बुद्ध देव
के वे मंगल-उपदेश कहाँ
तिब्बत, इरान, जापान, चीन
तक गये हुए सन्देश कहाँ !

वैशाली के भग्नावशेष से
पूछ लिच्छवी शान कहाँ
ओरी उदास गंडकी ! बता
विद्यापति कवि के गान कहाँ !

तू तरुण देश से पूछ अरे
गूँजा यह कैसा ध्वंस-राग
अम्बुधि अन्तस्तल बीच छिपी
यह सुलग रही है कौन आग।

प्राची के प्राङ्गण बीच देख
जल रहा स्वर्णयुग अग्नि ज्वाल
तू सिंह नाद कर जागयती
मेरे नगपति मेरे विशाल

दे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ
जाने दे उनको स्वर्ग धीर
पर फिरा हमें गांडीव गदा
लौटा दे अर्जुन भीम वीर।

कह दे शंकर से आज करें
वे प्रलय नृत्य फिर एक बार
सारे भारत में गूंज उठे
'हर हर बम' का फिर महोच्चार।

ले अंगड़ाई उठ, हिले धरा
कर निज विराट स्वर में निनाद
तू शैलराट् ! हुंकार भरे
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद

तू मौन त्याग कर सिंह नाद
रे तपी ! आज तप का न काल
नवयुग—शंखध्वनि जगार ही
तू जाग-जाग मेरे विशाल।

मेरी जननी के हिम किरीट
मेरे भारत के दिव्य भाल
नवयुग शंखध्वनि जगा रही
जागो नगपति ! जागो विशाल

गोपालसिंह नेपाली

'कवि जन्मजात होता है, बनाये नहीं बनता।' यदि यह कथन सत्य है, तो नेपाली जी जन्मजात कवि हैं। प्रकृति की मूक, प्रशान्त किन्तु चिर नवीन छवि के वर्णनों में उन्होंने जीवन के प्रच्छन्न रहस्यों की व्याख्या की है। मानवी प्रकृति और भारतीय संस्कृति की मान्यताओं के बीच उत्पन्न होने वाली विषमता में उन्होंने एक जीवन-दर्शन देखा है। भावों में मर्म-स्पर्श और भाषा में सरलता उनके काव्य की विशेषता है। समाज और देश की समस्याओं के उद्घोष और समाधान का स्वर यद्यपि उनकी कल्पनाओं में अपेक्षाकृत कम आया है, तथापि उनके कई गीत देशभक्ति और राष्ट्रीयता के वीर भावों से ओत-प्रोत हैं।

नेपाली जी भारती के एक यशस्वी गायक भी हैं। स्वर-माधुर्य और पाठ-शैली में वे सर्वथा मौलिक हैं। आपका कर्मक्षेत्र बिहार-प्रान्त है; किन्तु आजकल आप फ़िलिमस्तान में गीतकार के पद पर कार्य कर रहे हैं। आपका वय पैंतीस वर्ष के लगभग है।

जागरण-गान

जागो भारतवासी
स्वतंत्रता का उदित बालरवि
जागो भारतवासी

१

मन्द-मन्द स्वच्छन्द पवन है
आलोकित नीलाभ गगन है
नव उमंग में
नव तरंग में
वन-विहंग गा रहे वन्दना
सत्य हो रही आज कल्पना

मधुर कामना
मधुर भावना
कोटि-कोटि की, विगत युगों की;
निशि-प्रस्फुटित उषा-सी

२

अन्धकार हट गया निलय से
अखिल विश्व से, तरुण हृदय से
भरत-खण्ड से
खण्ड-खण्ड से
यह अखण्ड अमिताभ अमर भू
यह प्रचण्ड रुधिराक्त समर भू

आज विजय में
जीवन-जय में
जगमग है अभिनव प्रकाश से
वह भारत अविनाशी

३

नर-नारी जा रहे उमड़ कर
स्वतंत्रता की बलि-वेदी पर
जहाँ जेल में
खेल-खेल में
शत सहस्र बलिदान हुए थे
तरुण क्रान्ति के गान हुए थे
आज वहीं पर
उसी मही पर
हँसती उषा रुधिर-चन्दन की
लाल-लाल टीका-सी

४

चमक उठी है शृंग-शृंखला
चमक उठी है गुहा-मेखला
स्वर्ण-रश्मि में
स्वर्ण-ज्योति में
हिम-किरीट हिमगिर का उज्वल
रम्य नीलगिरि औ' विन्ध्याचल
निद्रा तोड़े
तन्द्रा छोड़े
हो रहे झिलमिल प्राची का
स्वर्णिम सूर्य्य सुहासी

५

तोड़-फोड़ कर प्रस्तर-कारा
गंगा-यमुना की जलधारा
आज बही है
लाँघ रही है
प्रान्त-प्रान्त वन गिरि उपत्यका
भेद रही प्राचीर मर्त्य का
और लहर में
पुण्य प्रहर में
दीप जला आलोकित करती
जाती पथ के काशी

६

यह दक्षिण का सिन्धु हमारा
यह भारत शरदिन्दु हमारा
स्वर्ण-भूमि यह
स्वर्ग-भूमि यह
यह स्वदेश आँखों का तारा
फिर से जग में आज हमारा
दैन्य बिसारो
आज निहारो
स्वतंत्रता का उदित बाल-रवि
उठो उठो पुरवासी

मार्च, १९४२]

ज़ंजीर

दीवार न बोली पत्थर की, यह काल कोठरी सजी नहीं
वह दिन न गया जीवन में जब ज़ञ्जीर पुरानी बजी नहीं
यह हविस किसी की, क़ैदी वह उन्माद-भरा दिखलाई दे
बेमौक़े होली जलती है, प्रहलाद खरा दिखलाई दे
यह खेत खून की खादों का आबाद, हरा दिखलाई दे
बन्दों की गाँधी टोपी में अब चाँद ज़रा दिखलाईं दे
इस काले घुप्प अँधेरे में काली-काली कुछ सजती है
क़ैदी का काला डेरा है, ज़ञ्जीर पुरानी बजती है
"है धूप चढ़ी हम प्यासे हैं, वह चीज़ सुराहीवाली ला
ला एक हमें गुलदस्ते दे, जा फल-फूलों की डाली ला
हम बिस्तर यहाँ लगा लेंगे, चल तोषक तकिया जाली ला
अब खश की टट्टी एक कहीं से जा मेरे बनमाली, ला"
—ये ख्वाब यहाँ पर आते हैं तस्वीर हमारी सजने को
खिड़की के पर्दे गिरते हैं ज़ञ्जीर पुरानी बजने को
वह लाल चिता जब सजती है त्योहार उसे हम कहते हैं
हो जिसकी धार मुहब्बत की तलवार उसे हम कहते हैं
चढ़ चले फूल-सा खिलकर जो सरदार उसे हम कहते हैं
जो बनी नहीं हो पत्थर की सरकार उसे हम कहते हैं
यह लोहे का दर्वाज़ा है, तस्वीर हमारी सजती है
ज़ञ्जीर पुरानी बजती थी, ज़ञ्जीर पुरानी बजती है
इस गर्मी, ठण्ढी, वर्षा में ये घाव उघड़ते जायेंगे
यह दुनिया चुप्पी साधेगी, हम और ज़ोर से गायेंगे
हर दिन सावन है, भादों हैं, काले-काले घन छायेंगे
बिजली को काले कम्बल में चमकाकर हम दिखलायेंगे
दीवार न बोली पत्थर की, यह काल कोठरी सजी नहीं
वह दिन न गया जीवन में जब ज़ञ्जीर पुरानी बजी नहीं

मार्च, १९३५]

सोहनलाल द्विवेदी

द्विवेदी जी उन कवियों में हैं जिन्होंने कविता कामिनी के केवल सुकुमार स्वरलय को ही अङ्गीकृत नहीं किया है वरन् राष्ट्रीय चेतना द्वारा उसमें ओज फूँक दिया है। आपकी कविताएँ अधिकतर राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। सत्याग्रह, चर्खा, अछूतोद्धार आदि विषयों पर आपने कविताएँ लिखी हैं।

जहाँ द्विवेदी जी में वीर-कवि होने के गुण विद्यमान हैं, वहाँ भारत की पुरातन संस्कृति का दिग्दर्शन कराने की भी क्षमता है। 'वासवदत्ता' वाली कविता, सांस्कृतिकता, भाषा-सौष्ठव तथा सुन्दर शब्द-योजना के कारण अनेक कवि सम्मेलनों में प्रशंसित हो चुकी है। 'उर्वशी' में पुरूरवा और उर्वशी की प्रणय-कथा बड़े सुन्दर ढंग से कही गई है।

द्विवेदी जी में एक और विशेषता है। आप बालोपयोगी कविता लिखने में बड़े सिद्धहस्त हैं।

और आपकी रचनाओं में 'भैरवी' 'कुणाल' और 'वासवदत्ता और उर्वशी' विशेष उल्लेखनीय हैं।

राणा प्रताप के प्रति

कल हुआ तुम्हारा राजतिलक
बन गये आज ही वैरागी !
उत्फुल्ल मधु मदिर सरसिज में
यह कैसी तरुण-अरुण आगी !
क्या कहा, कि—,
'तब तक तुम न कभी,
वैभव सिंचित शृङ्गार करो'

क्या कहा, कि—,
'जब तक तुम न विगत—
गौरव स्वदेश उद्धार करो !'
माणिक मणिमय सिंहासन को
कंकण पत्थर के कानों पर,
सोने-चाँदी के पात्रों को
पत्तों के पीले दोनों पर,

वैभव से विह्वल महलों को
काँसे की कटु झोपड़ियों पर,
मधु से मतवाली बेलायें
भूखी बिलखाती घड़ियों पर,
रानी कुमार-सी निधियों को
मा की आँसू की लड़ियों पर,
तुमने अपने को लुटा दिया
आज़ादी की फुलझड़ियों पर !
निर्वासन के निष्ठुर प्रण में
धुँधुवाती रक्त-चिता रण में,
बाणों के भीषण वर्षण में
फौहारे से बहते व्रण में,
बेटा की भूखी आहों में
बेटी की प्यासी दाहों में,
तुमने आज़ादी को देखा
मरने की मीठी चाहों में !
किस अमरशक्ति-आराधन में
किस मुक्ति-युक्ति के साधन में,
मेरे वैरागी वीर व्यग्र
किस तप-बल के उत्पादन में !,

हम कसे कवच, सज अस्त्र-शस्त्र
व्याकुल हैं रण में जाने को,
मेरे सेनापति ! कहाँ छिपे !
तुम आओ शंख बजाने को;
जागो ! प्रताप, मेवाड़ देश के
लक्ष्यभेद हैं जगा रहे,
जागो ! प्रताप, मा-बहनों के
अपमान-छेद हैं जगा रहे;
जागो प्रताप, मदवालों के
मतवाले सेना सजा रहे,
जागो प्रताप, हल्दी घाटी में
वैरी भेरी बजा रहे !
मेरे प्रताप, तुम फूट पड़ो
मेरे आँसू की धारों से,
मेरे प्रताप, तुम गूँज उठो
मेरी संतप्त पुकारों से;
मेरे प्रताप, तुम बिखर पड़ो
मेरे उत्पीड़न भारों से,
मेरे प्रताप, तुम बिखर पड़ो
मेरे बलि के उपहारों से;

श्यामनारायण पाण्डेय

पाण्डेय जी पुरातन हिन्दू संस्कृति के समर्थक हैं। आप प्रारम्भ में प्रायः सम्मेलनों के लिये समस्यापूर्ति तथा स्फुट छन्द लिखा करते थे। आपने 'त्रेता के दो वीर' नामक एक छोटा-सा काव्य लिखा जिसमें लक्ष्मण-मेघनाद-युद्ध के कई प्रसङ्ग लेकर दोनों वीरों का महत्व चित्रित किया। 'माधव' और रिमझिम नामक आपकी और दो छोटी रचनाएँ हैं। किन्तु बाद में आपका ध्यान अतीत के गौरव गान की ओर आकृष्ट हुआ और आपने 'हल्दीघाटी' पर १७ सर्गों का एक उत्कृष्ट महाकाव्य लिखा। इस काव्य में मेवाड़ की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर कवि ने राणा प्रताप की वीरगाथा का अतीव सुन्दर वर्णन किया है। इन वर्णनों में कवि की दृष्टि केवल चित्रकार जैसी न रह कर देश और काल की तत्कालीन स्थितियों के अनुरूप यथेष्ठ भावात्मक भी है। युद्ध के वर्णन में छन्द की गति और शब्दों के चुनाव में कवि ने अद्भुत कौशल प्रदर्शित किया है। कुछ वर्ष हुए श्रीमान् ओरछा-नरेश ने इस ग्रंथ पर २०००) दो सहस्र रुपये का देवपुरस्कार देकर कवि को सम्मानित किया है। पुस्तक आरम्भ से अंत तक वीररस से ओत-प्रोत है।

हल्दीघाटी का युद्ध

जग में जाग्रति पैदा कर दूँ,
हलचल-सी मच जाये पर,
वह मन्त्र नहीं, वह तन्त्र नहीं,
यह लिखता हूँ रण षड्यंत्र नहीं॥
कैसे वांछित कविता कर दूँ,
मेरी यह कलम स्वतन्त्र नहीं॥
अपने उर की इच्छा भर दूँ,
ऐसा है कोई यन्त्र नहीं,

ब्राह्मण है तो आँसू भर ले,
क्षत्रिय है नत-मस्तक कर ले,
है वैश्य शूद्र तो बार-बार,
अपनी सेवा पर शक कर ले॥

दुख देह पुलक कम्पन होता,
हा, विषय गहन यह नभ-सा है।
यह हृदय-विदारक वही समर,
जिसका लिखना दुर्लभ-सा है॥
फिर भी पीड़ा से भरी क़लम,
लिखती प्राचीन कहानी है।
लिखती हल्दीघाटी रण की,
वह अजर-अमर क़ुर्बानी है॥
सावन का हरित प्रभाव रहा,
अम्बर पर थी घनघोर घटा।
फहराकर पंख थिरकते थे,
मन हरती थी बन-मोर-छटा॥
पड़ रही फुही झींसी झिन-झिन॥
पर्वत की हरी वनाली पर।
'पी कहाँ' पपीहा बोल रहा,
तरु-तरु की डाली-डाली पर॥
वारिद के उर में चमक-दमक,
तड़-तड़ बिजली थी तड़क रही।
रह-रह कर जल था बरस रहा,
रणधीर भुजा थी फड़क रही॥
था मेघ बरसता झिमिर-झिमिर,
तटिनी की भरी जवानी थी।
बढ़ चली तरंगों की असि ले,
चण्डी-सी वह मस्तानी थी॥
वह घटा चाहती थी जल से,
सरिता-सागर-निर्झर भरना।
यह घटा चाहती शोणित से,
पर्वत का कण कण तर करना॥
धरती की प्यास बुझाने को,
वह घहर रही की घन-सेना।
लोहू पीने के लिये खड़ी—
यह हहर रही थी जन-सेना॥
नभ पर चम-चम चपला चमकी,
चम-चम चमकी तलवार इधर;
भैरव अमन्द घन-नाद उधर,
दोनों दल की ललकार इधर॥
वह कड़-कड़-कड़-कड़ कड़क उठी,
वह भीम-नाद से तड़क उठी।
भीषण संगर की आग प्रबल,
बैरी-सेना में भड़क उठी॥
डग-डग-डग-डग रण के डंके,
मारू के साथ भयद बाजे।
टप-टप-टप घोड़े कूद पड़े,
कट-कट मतंग के रद बाजे॥
कल-कल कर उठी मुग़ल-सेना,
किलकार उठी, ललकार उठी।
असि म्यान-विवर से निकल तुरत,
अहि-नागिन-सी फुफकार उठी॥
शर दण्ड चले-कोदण्ड चले,
कर की कटारियाँ तरज उठीं।
खूनी बरछे-भाले चमके,
पर्वत पर तोपें गरज उठीं॥
फर-फर-फर-फर-फर फहर उठा,
अकबर का अभिमानी निशान।

बढ़ चला कटक लेकर अपार,
मद-मस्त द्विरद पर मस्त-मान ॥
कोलाहल पर कोलाहल सुन,
शस्त्रों की सुन झनकार प्रबल ।
मेवाड़ केसरी गरज उठा,
सुनकर अरि की ललकार प्रबल ॥
हर एकलिंग को माथ नवा,
लोहा लेने चल पड़ा वीर ।
चेतक का चंचल वेग देख,
था महा-महा लज्जित समीर ॥
लड़-लड़ कर अखिल महीतल को,
शोणित से भर देने वाली ।
तलवार वीर की तड़प उठी,
अरि-कण्ठ क़तर देने वाली ॥
राणा का ओज भरा आनन,
सूरज समान चमचमा उठा ।
बन महाकाल का महाकाल,
भीषण भाला दमदमा उठा ॥
भेरी प्रताप की बजी तुरत,
बज चले दमामे धमर-धमर ।
धम-धम रण के बाजे-बाजे,
बज चले नगारे धमर-धमर ॥
जय रुद्र बोलते रुद्र सदृश,
खेमों से निकले राजपूत ।
झट झण्डे के नीचे आकर,
जय प्रलयंकर बोले सपूत ॥
अपने पैने हथियार लिये;
पैनी पैनी तलवार लिये ।
आये खर कुन्त कटार लिये,
जननी सेवा का भार लिये ॥
कुछ घोड़े पर कुछ हाथी पर,
कुछ योधा पैदल ही आये ।
कुछ ले बरछे कुछ ले भाले
कुछ शर से तरकस भर लाये ॥
रण-यात्रा करते ही बोले,
राणा की जय, राणा की जय ।
मेवाड़-सिपाही बोल उठे,
शतवार महाराणा की जय ॥
हल्दीघाटी के रण की जय,
राणा प्रताप के प्रण की जय ।
जय जय भारतमाता की जय,
मेवाड़ देश कण-कण की जय ॥
हर एकलिङ्ग, हर एकलिङ्ग,
बोला हर-हर अम्बर अनन्त ।
हिल गया अचल, भर गया तुरत,
हर-हर निनाद से दिगदिगन्त ॥
घनघोर घटा के बीच चमक,
तड़-तड़ नभ पर तड़िता तड़की ।
झन-झन असि की झनकार इधर,
कायर-दल की छाती धड़की ॥
अब देर न थी बैरी-वन में,
दावानल के सम छूट पड़े ।
इस तरह वीर झपटे उन पर,
मानो हरि मृग पर टूट पड़े ॥

मरने कटने की बान रही,
पुश्तैनी इससे आह न की।
प्राणों की रंचक चाह न की,
तोपों की भी परवाह न की॥
रण-मत्त लगे बढ़ने आगे,
शिर काट-काट करवालों से।
संगर की मही लगी पटने,
क्षण-क्षण अरि-कण्ठ कपालों से॥
हाथी-सवार हाथी पर थे,
बाजी-सवार बाजी पर थे।
पर उनके शोणित-मय-मस्तक,
अवनी-पर मृत-राजी पर थे॥
कर की असि ने आगे बढ़कर,
संगर-मतंग-शिर काट दिया।
बाजी वक्षःस्थल गोभ-गोभ,
बरछी ने भूतल पाट दिया॥
गज गिरा मरा पिलवान गिरा,
हय कट कर गिरा निशान गिरा।
कोई लड़ता उत्तान गिरा,
कोई लड़कर बलवान गिरा॥
झटके से शूल गिरा भू पर,
बोला भट मेरा शूल कहाँ।
शोणित का नाला बह निकला,
अवनी-अम्बर पर धूल कहाँ॥
आँखों में भाला भोंक दिया,
लिपटे अन्धे जन अन्धों से।
शिर कट-कट भूपर लोट गये,
लड़ गये कबन्ध कबन्धों से॥
अरि-कुन्त घुसा झट उसे दबा,
अपने सीने के पार किया।
इस तरह निकट बैरी-उर को,
कर कर कटार से फार दिया॥
कोई खरतर करवाल उठा,
सेना पर बरसा आग गया।
गिर गया शीश कट कर भू पर,
घोड़ा धड़ लेकर भाग गया॥
कोई करता था रक्त-वमन,
छिद गया किसी मानव का तन।
कट गया किसी का एक बाहु,
कोई था सायक-विद्ध नयन॥
गिर पड़ा पीन गज, फटी धरा,
खर रक्त वेग से कटा धरा।
चोटी-दाढ़ी से पटी धरा,
रण करने को भी घटी धरा॥
तो भी रख प्राण हथेली पर,
बैरी-दल पर चढ़ते ही थे।
मरते कटते मिटते भी थे,
पर राजपूत बढ़ते ही थे॥
राणा प्रताप का ताप तथा,
अरि-दल में हाहाकार मचा।
भेड़ों को जगह भगे कहते,
अल्लाह हमारी जान बचा॥
अपनी नंगी तलवारों से,
वे आग रहे हैं मुगल कहाँ।

वे कहाँ शेर की तरह लड़ें ।
हम दीन सिपाही मुगल कहाँ ॥
भयभीत परस्पर कहते थे,
साहस के साथ भगो वीरो !
पीछे न फिरो, न मुड़ो; न कभी,
अकबर के हाथ लगो वीरो !
यह कहते मुगल भगे जाते,
भीलों के तीर लगे जाते ।
उठते जाते, गिरते जाते,
बल खाते रक्त पगे जाते ॥
आगे थी अगम बनास नदी,
वर्षा से उसकी प्रखर धार ।
थी बुला रही उसको शतशत,
लहरों के कर से बार-बार ॥
पहले सरिता को देख डरे,
फिर कूद-कूद उस पार भगे ।
कितने बह-बह इस पार लगे,
कितने बहकर उस पार लगे ॥
मंझधार तैरते थे कितने,
कितने जल पी-पी ऊब मरे,
लहरों के कोड़े खा खाकर,
कितने पानी में डूब मरे ॥
राणादल की ललकार देख,
अपनी सेना की हार देख ।
मातंक चकित रह गया मान,
राणा प्रताप के वार देख ॥
व्याकुल होकर वह बोल उठा,
"लौटो-लौटो न भगो भागो ।
मेवाड़ उड़ा दो तोप लगा,
ठहरो-ठहरो फिर से जागो ॥
देखो आगे बढ़ता हूँ मैं,
बैरी-दल पर चढ़ता हूँ मैं ।
ले लो करवाल बढ़ो आगे,
अब विजय-मन्त्र पढ़ता हूँ मैं" ॥
भगती सेना को रोक तुरत,
लगवा दी भैरव-काय तोप ।
उस राजपूत कुल-घातक ने,
हा, महाप्रलय सा दिया रोप ॥
फिर लगी बरसने आग सतत,
उन भीम भयंकर तोपों से ।
जल-जलकर राख लगे होने,
योधा उन मुगल प्रकोपों से ॥
भर रक्त-तलैया चली उधर,
सेना उर में भी शोक चला ।
जननी-पद शोणित से धो-धो,
हर राजपूत हर-लोक चला ॥
क्षणभर के लिये विजय दे दी,
अकबर के दारुण दूतों को ।
माता ने अंचल बिछा दिया,
सोने के लिये सपूतों को ॥
विकराल गरजती तोपों से,
रूई सी छण-छण धुनी गई ।
उस महायज्ञ में आहुति सी,
राणा की सेना हुती गई ॥

बच गये शेष जो राजपूत,
संगर से बदल-बदलकर रुख ।
निरुपाय दीन कातर होकर,
वे लगे देखने राणा-मुख ॥

राणा दल का यह प्रलय देख,
भीषण भाला दमदमा उठा ।
जल उठा वीर का रोम-रोम,
लोहित आनन तमतमा उठा ॥

वह क्रोध-वह्नि से जल भुनकर,
काली कटाक्ष-सा ले कृपाण ।
घायल नाहर-सा गरज उठा,
क्षण-क्षण बिखेरता प्रखर प्राण ॥

बोला—"आगे बढ़ चलो शेर,
मत क्षण भर भी अब करो देर ।
क्या देख रहे हो मेरा मुख,
तोपों के मुँह दो अभी फेर" ॥

बढ़ चलने का सन्देश मिला,
मर मिटने का उपदेश मिला ।
"दो फेर तोप मुख" राणा से,
उन सिंहों को आदेश मिला ॥

गिरते-जाते, बढ़ते जाते,
मरते जाते, चढ़ते जाते,
मिटते जाते, कढ़ते जाते,
गिरते, मरते-मिटते जाते ॥

बन गये वीर मतवाले थे,
आगे वे बढ़ते चले गये ।
राणा प्रताप की जय करते,
तोपों तक चढ़ते चले गये ॥

उन आग बरसती तोपों के,
मुँह फेर अचानक टूट पड़े ।
बैरी-सेना पर तड़प-तड़प—
मानो शत-शत पवि छूट पड़े ।

फिर महासमर छिड़ गया तुरत,
लोहू लोहित हथियारों से ।
फिर होने लगे प्रहार वार,
बरछे-भाले—तलवारों से ॥

शोणित से लथपथ ढालों से,
कर के कुन्तल करबालों से,
खर-छुरी-कटारी फालों से,
भू-भरी भयानक भालों से ॥

गिरि की उन्नत चोटी से,
पाषाण भील बरसाते ।
अरि-दल के प्राण पखेरू,
वनपिंजर से उड़ जाते ॥

कोदण्ड-चण्ड रव करते,
बैरी निहारते चोटी ।
तब तक चोटीवालों ने,
बिखरादी बोटी-बोटी ॥

अब इसी समर में चेतक,
मारुत बनकर आयेगा ।
राणा भी अपनी असि का,
अब जौहर दिखलायेगा ॥

"जौहर" नामक महाकाव्य से

तुम अजर बढ़े चलो,
तुम अमर बढ़े चलो।
तुम निडर बढ़े चलो,
आन पर चढ़े चलो॥

काँप रहा हाड़ हो,
घोर विपिन झाड़ हो।
सामने पहाड़ हो,
सिंह की दहाड़ हो॥

शेषनाग हो अड़ा,
क्यों न काल हो खड़ा।
पड़ रहे तुषार हों,
झड़ रहे अँगार हों॥

पर न तुम रुको कभी,
पर न तुम झुको कभी।
नाग पर चले चलो,
आग पर चले चलो॥

तुम अजर बढ़े चलो,
तुम अमर बढ़े चलो।
तुम निडर बढ़े चलो,
आन पर चढ़े चलो॥

देश की शपथ तुम्हें,
वेश की शपथ तुम्हें।
मददगार राम है,
लौटना हराम है॥

एक गति बनी रहे,
एक मति बनी रहे।
जोश भी न कम रहे,
बाढ़ पर क़दम रहे॥

क्यों न चलें गोलियाँ,
पर न रुकें डोलियाँ।
घूमते हुए चलो,
झूमते हुए चलो॥

तुम अजर बढ़े चलो,
तुम अमर बढ़े चलो।
तुम निडर बढ़े चलो,
आन पर चढ़े चलो॥

कौन कह रहा निबल,
कौन कह रहा कि टल।
झाड़ दो उसे अभी,
गाड़ दो उसे अभी॥

लक्ष्य तो महान है,
एक इम्तहान है।
पर न रंच भय करो,
राह रक्तमय करो॥

विघ्न ठेलते चलो,
हाँ, ढकेलते चलो।
मस्त रेल चलो,
खेल खेलते चलो॥

तुम अजर बढ़े चलो,
तुम अमर बढ़े चलो।
तुम निडर बढ़े चलो,
आन पर चढ़े चलो॥

गर त्रिकूटधर गिरे,
सूर छूटकर गिरे।
चाँद फूटकर गिरे,
व्योम टूटकर गिरे॥

आसमान फट चले,
मेदिनी उलट चले।
आग की लपट चले,
अंग-अंग कट चले॥

पर न तुम रुको कभी
पर न तुम झुको कभी।
चाह पर चले चलो,
राह पर चले चलो॥

रामेश्वर शुक्ल 'अञ्चल'

जन्म-संवत् १९७२ वि०, निवास-स्थान कृष्णपुर, ज़िला फ़तेहपुर। आजकल आप युक्तप्रान्तीय पब्लिक-सरविस-कमीशन आफ़िस इलाहाबाद में कार्य करते हैं।

'अञ्चल'जी आधुनिक हिन्दी-काव्य में प्रगतिशील धारा के प्रमुख कवि हैं। उनकी कविता में अतृप्ति, असंतोष और विद्रोह के उदात्त भाव हमें मिलते हैं। भाषा के सम्बन्ध में वे कोमल-कान्त-पदावली के उतने समर्थक नहीं, जितने विषय के अनुरूप, भावों की अभिव्यंजना में, निरोध-हीन प्रवाह के। उर्दू कविता का भी उन पर प्रभाव है और उसके शब्दों को भी वे स्वतंत्रता-पूर्वक ग्रहण करते हैं। क्रान्ति, अन्धड़, प्रलय, हलचल तथा हाहाकार-जन्य स्थितियाँ उन्हें अधिक प्रेरणा देती हैं। पुरातन संस्कृति की परम्पराओं और रूढ़ियों के साथ वे समझौता न कर उनके मूलोच्छेदन की ओर विशेष क्रियाशील हैं। जीवन, समाज और जगत् को देखने में वे मार्क्सवाद से अधिक प्रभावित हैं; यद्यपि उसके सिद्धान्तों को वे अपने जीवन में व्यवहार का रूप नहीं दे पाये।

'अञ्चल'जी की कविता में विषय-प्रतिपादन सम्बन्धी उपमाएँ नयी, अभिव्यक्ति की शैली मौलिक और प्रवाह का वेग उद्दाम रहता है। समाज में आज जो भेदाभेद चल रहा है, उच्च और निम्नवर्ग के स्वार्थों में जो एक संघर्ष उपस्थित है 'अंचल' जी उसके कुशल चित्रकार, आलोचक और गायक हैं। शोषण और उसके मूलाधारों के ध्वंस को अपनी कवि-कल्पनाओं पर वीरतापूर्वक उतारकर वास्तव में उन्होंने हिन्दी-काव्य की प्रगतिशील धारा को शक्ति और गति दी है। अब तक मधूलिका, 'अपराजिता', 'किरणबेला' और 'लालचूनर' नामक उनके चार कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। वे अपनी धारा के एक प्रतिभाशाली कवि ही नहीं, कथाकार और निबन्ध-लेखक भी हैं।

आह्वान

तुम उठो कड़कती बिजली से लेकर जनसत्ता का निशान
तुम बढ़ो तोप के भयकारी गोले-सा अपना लक्ष्य जान
ठहरा चौहद्दी पर दुश्मन
कर रहा नष्ट आबाद चमन
यह देश हमारा हरा-भरा
पर जैसे है भय का पहरा
घेरे दुश्मन की सेनाएँ घेरे दुश्मन के वायुयान
तुम झंडा ले बढ़ चलो मिला काँधे-से-काँधा वक्ष तान
इस महादेश की तुम्हें लाज
कैसे हो तुम निश्चिन्त आज
यह श्रम-शोषक फासिस्ट शाह
लड़ते ले सदियों के गुनाह
तुम उठो युद्ध के जलते अंगारों में ले नवयुग-विहान
फेरी देते हैं द्वार तुम्हारे आज सभी साथी महान
तुम जीवन के बहते प्रवाह
तुम बलिदानों के नद अथाह
यह लोक जागरण लोक-युद्ध
क्यों रहे तुम्हारी प्रगति रुद्ध
नाज़ी जापानी पशुता से रोती जनता कँपता जहान,
यह विकट काल —माँ बहिनों की मर्यादा का भी नहीं त्राण
जुल्मों की आँधी बन्द करो
इस ख़ूनी अजगर को मारो
यह नर्क अगर भू पर आये
इस जन ज्वाला में जल जाये-
तुम सूरज की किरणों से आगे बढ़ो विजय के मुक्त गान
शोणित के बिन्दु-बिन्दु से तर करते जन सत्ता का निशान

जनगीत

अपने सिर पर कफ़न बाँध ले कर लड़ने की तैयारी
रूस लड़ रहा—चीन कट रहा आज हमारी भी बारी

गरज रहा है रक्त-सिन्धु भारत की जनता का चञ्चल
फड़क उठी हैं कोटि-कोटि बाहें उतावली रण-विह्वल

आज देश का जन-जन बनकर लोहे की दीवार खड़ा
सावधान हो जायँ सभी फ़ासिस्ट जगत के अविचारी

हम न रुकेंगे हम न झुकेंगे हम न क़दम पीछे देंगे
हम रूसी चीनी जनता का खड़े-खड़े बदला लेंगे

धँस जायेंगे हत्यारों की छाती में बन संगीनें
लुटता है ईमान हमारा आज न हमें जान प्यारी

मातृभूमि पर बैरी घिरता आता है तो घिर आये
लानत है हम पर यदि उनमें जीवित एक लौट पाये

एक-एक लोथड़ा हमारा दहकेगा गोली बनकर
लक्ष्मीबाई-सी निकलेंगी एक-एक घर से नारी

कब-कब हम न देशरक्षा के लिए मरे—बलिदान हुए
कब-कब हम न शूर-वीरों के गर्व रहे—जयगान हुए

कब-कब हम न कुटुम्ब-सहित भारत-भू पर क़ुर्बान हुए
कब स्वदेश पर आफ़त आयी औ' हमने हिम्मत हारी

मुश्किल राह नहीं है अपनी देखी है—पहचानी है
मरा युद्ध में अमर हुआ वह दुनिया जीकर फ़ानी है

आज़ादी उनकी जो आज़ादी की क़ीमत जान चुके
उठ बीरन! कर अपने भारत की रक्षा की तैयारी

क़दम-क़दम बलिदान चाहता दुनिया लोहू की प्यासी
बनने को तेरा मज़ार मिट्टी स्वदेश की अभिलाषी

बम के गोलों शमशीरों में भी तुम अडिग खड़े रहना
जब तक मिट न जायँ दुनिया से ये बर्बर सत्ताधारी
जागो ज्वालामुखी देश का जागो तुम ओ अंगारो !
उठो देश की रक्षा का आह्वान करो ओ हथियारो !
सन्तों के जादू-टोनों पर तुम न अधिक विश्वास करो
देशभक्ति की यही निशानी मिटे ज़ुल्म की अँधियारी
ओरे सैनिक, ओ जवान ओरे भाई ओरी बहना
"शोलों से पनाह मत माँगो" अधिक नहीं कवि को कहना
आज क्रान्ति के, समता के, सपनों का मोल चुकाना है
अभी हमें बनना है एक नये जीवन का अधिकारी
अपने सिर पर कफ़न बाँध ले कर लड़ने की तैयारी
रूस लड़ रहा, चीन कट रहा, आज हमारी भी बारी